3.5

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

श्रीमत्सायणाचार्यविरचिता

ऋग्वेद-भाष्यभूमिका

सविवरण 'शारदी' हिन्दीव्याख्योपेता



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
५८

श्रीमत्सायणाचार्यविरचिता

ऋग्वेद-भाष्यभूमिका

सविवरण 'शारदी' हिन्दीव्याख्योपेता

भूमिका-लेखकः
डॉ० महाप्रभुलाल गोस्वामी
एम. ए., पी-एच्. डी., डी. लिट्.
प्रो० सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

व्याख्यात्री
डॉ० शारदा चतुर्वेदी
एम. ए., पी-एच्. डी.
प्राध्यापिका : आधुनिक भाषाएँ एवं भाषाविज्ञान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-२२१००१

१९८४

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०४१ (सन् १९८४ ई०)
मूल्य रू० : १०-००

पो० बा० नं० ११६८
चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी-२२१००१
(भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६३१४५

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
58



ṚGVEDA-BHĀṢYABHŪMIKĀ

OF

SĀYAṆĀCHĀRYA

Edited with
'Sharadi' Hindi Commentary

By

Dr. SHARADA CHATURVEDI
M. A. (Eng., Sans., Lingui.), Ph. D.
Lecturer : Linguistics :
Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi.

Foreword by

Dr. Mahaprabhulal Goswami
M. A., Ph. D., D. Litt.
Prof. Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi.



Krishnadas Academy

VARANASI–221001

1984

Oriental Publishers & Distributors
POST BOX No. 1118
Chowk, (Chitra Cinema Building), Varanasi–221001
(INDIA)

First Edition
1984
Price Rs. 10–00

Also can be had from
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 1008, Varanasi–221001 (India)
Phone : 63145

TO MY REVERED TEACHERS

PROF. DR. CHANDIKA PRASAD SHUKLA

DR. HARI SHANKAR TRIPATHI

PROF. DR. BISHWANATH BHATTACHARYA

PROF. DR. SATYA SWARUP MISRA

IN TOKEN OF GRATITUDE AND DEEP REGARD

दो शब्द

हरिं श्रीविश्वनाथञ्च चण्डीं सत्यं गुरुं सदा।
शारदा शारदां नौति पितरं मातरं तथा॥

विद्वानों के सम्मुख अपने अध्ययन के अनुशीलन की दृष्टि से यह उपहार समर्पित कर रही हूँ। मुझे विश्वास है कि आचार्यों से उपलब्ध विद्या के विकास का यह साधन होगा और गुरुजनों के आशीर्वाद से मैं अध्ययन में सफल होऊँगी।

इस प्रसङ्ग में अपने आचार्यवर्ग डॉ. श्री हरिशङ्कर त्रिपाठी, डॉ. श्री चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, डॉ० श्री विश्वनाथ भट्टाचार्य एवं डॉ० श्री सत्यस्वरूप मिश्र का नमनपूर्वक आभार वहन करती हूँ।

अन्त में कृष्णदास अकादमी के सञ्चालकवर्ग जो संस्कृत-साहित्य की सेवा में सतत अनुरक्त हैं, उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करती हूँ। भगवान् विट्ठलेश इनकी सतत प्रगति करें यही अपनी हार्दिक शुभ कामना है। शमिति।

गुरुपूर्णिमा
वि. सं. २०४१

विनयावनता
शारदा चतुर्वेदी

भूमिका

डॉ० महाप्रभुलाल गोस्वामी

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.

न्याय-व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, मीमांसाशास्त्री,

आचार्य एवं अध्यक्ष दर्शनविभाग :

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतवर्ष का उष:काल वैदिकयुग से प्रारम्भ होता है इसके पूर्व की गाथा हम लोगों के लिए अज्ञात है। यदि कोई इसके पूर्व की संस्कृति होगी तो वह इस वैदिक-संस्कृति में ही जीर्ण-शीर्ण हो गई। अत: वेद की भूमिका में ही भारत का सर्वप्रथम आत्मचेतना उद्दीप्त हुआ, इस आत्म-चैतन्य का स्वरूप अध्यात्म-भावना ने ग्रहण किया। भारतवर्ष की संस्कृति की अवगति के लिए वैदिक-साहित्य की आलोचना एवं भावनाओं का अनुशीलन आवश्यकीय ही नहीं अपरिहार्य है। यह सत्य है कि इस साहित्य का आयतन अतिशय बिपुल है। बहुसहस्रव्यापिनी आध्यात्म-चिन्ता की धारा को गुरु से उच्चारण में अनुच्चारण कर्मके रूप में तथा उसके विविध अङ्गों के अध्ययन के द्वारा उसके अर्थ की सुरक्षा की गयी। कालक्रम से मनुष्य की भाषा में परिवर्तन एवं आचार-व्यवहार से भी म्लानता आई किन्तु अन्तर्निहित सत्य की क्रमिक अभिव्यक्ति के अनुसार विचार करने पर उसकी अन्त:प्रकृति का विशेष परिवर्तन लक्षित नहीं होता है। आत्मा, विश्व और क्रिया के प्रसङ्ग में वैदिक ऋषियों ने जो चिन्ता प्रस्तुत की उस रहस्य की अवगति की चेष्टा आज भी शेष हैं। अरविन्द, रवीन्द्र का प्रयास आज भी इस दिशा में सत्य का प्रकाशन है---उनके हृदय को आकूति की प्रकाशित महिमा आज भी सरसमय व्यापार के लिए अपेक्षित है। काल का व्यवधान आज इसे अगम्य बनाता जा रहा है।

वेद, आर्य-संस्कृति का मुख्यरूप से वाहक है। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से अवैदिक भावनाओं का भी उद्दीप्त रूप लक्षित होता है। इसका प्रभाव अलक्ष्य है किन्तु इसकी विषयवस्तु मानवजीवन के प्रत्येक क्षणों में व्याप्तरि

हैं। वैदिक-साहित्य के चार भाग किये जा सकते हैं। मन्त्र, संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्, प्राचीनतम भाग मन्त्र और ब्राह्मण हैं। इनमें भी मूल मन्त्र ही है और ब्राह्मण इसका उपव्याख्यान है। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण के ही अन्तर्गत हैं इसीलिए ऋक् संहिता में मन्त्र और ब्राह्मण को वेद शब्द से कहा गया है। मन्त्र में आरब्ध चिन्ताएँ उपनिषद्काल में शेष होती हैं। भावप्रधान, होने के कारण उपनिषद् सहसा बोधगम्य प्रचार-बहुल और उसकी भाषा भी बोधगम्य है किन्तु समस्या है वेद के मन्त्र भाग की, उसकी भाषा प्राचीनतम है। ब्राह्मण उसकी प्राचीनतम व्याख्या मानी जा सकती है, उसमें धारा वाहिक क्रम में मन्त्र का व्याख्यान उपलब्ध नहीं है, क्योंकि यह उसका उद्देश्य नहीं है। ब्राह्मण वेदार्थ मीमांसा नहीं है, अपितु कर्ममीमांसा है। वेद के मन्त्रों के साथ क्रिया काण्ड का सघन योग है। क्रियाकाण्ड का सुशृङ्खल सुस्पष्ट दिग्दर्शन ही तो ब्राह्मण है। इसीलिए तो मन्त्र के रहस्यार्थ उद्घाटन की चेष्टा नहीं है। किन्तु वेद की अवगति के लिए रहस्यार्थ का ज्ञान तो अपरिहार्य है।

वेद के मन्त्र और ब्राह्मण के परिशीलन से यह अवगत होता है कि कर्म और ज्ञान के मध्य में सुदूरपरवर्ती काल में एक प्राचीर की रचना कर दी गयी है। क्या गीता हमें यह अवगत नहीं कराती कि द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है एवं सभी कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होते हैं। वैदिक क्रिया-कलापों का तो यही लक्ष्य है—आत्मचेतना को लोकोत्तर चिन्मयभूमि में उत्तीर्ण करना ही इसका प्रधान उद्देश्य है। यह चिन्मयभूमि ही स्वर्ग है। जिसकी प्राचीन संज्ञा स्वः—ज्योतिर्मय अनुभव है। ज्ञानयज्ञ के द्वारा जिस अवस्था में मानव पहुँचने की चेष्टा करता है वही तो द्रव्ययज्ञ का भी लक्ष्य है। स्वर्ग और मोक्ष ये दोनों परस्पर विरुद्ध भावना नहीं हैं। इसी लिएशु क्लयजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में ईशोपनिषद् अन्तर्भुक्त है। यजुर्वेद कर्मवेद है, इसमें प्रमाण की अपेक्षा नहीं। ईशोपनिषद् में अठारह मन्त्र हैं, जिनके द्वारा उदार दृष्टि और विराट् समन्वय की चेष्टा अतुलनीयरूप में सन्निविष्ट है। कर्मवेद के शेष में सार्वभौम ज्ञान का प्रदीप जलाकर कर्म की तत्त्वज्ञान में परिसमाप्ति ही तो निर्दिष्ट है। इस प्रसङ्ग में याज्ञवल्क्य के उपाख्यान को उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा, जिसमें कृष्णयजुर्वेद की धारा को शुक्लयजुर्वेद में परिणत कर कृष्ण या अविद्या कर्म को शुक्ल या

विद्या के कर्म में रूपान्तरित किया। याज्ञवल्क्य की आर्य-ज्ञानसाधना और कर्मसाधना चरम भूमि पर अवस्थित थी। इसका परिचय उपनिषद् के याज्ञवल्क्य और शुक्लयजुर्वेद के प्रवर्तक याज्ञवल्क्य को मिला देने से ही उपलब्ध हो जाता है।

मन्त्र मीमांसा से प्रभावित है, क्योंकि दोनों के मूल में एक ही धातु अवस्थित है। देवाविष्ट मनन का स्वतःविच्छुरण मन्त्र है, और अभ्यास के द्वारा बुद्धिगत करने की प्रचेष्टा मीमांसा है। मन्त्र के स्वतःसिद्ध रहस्य के प्रतिपादन के लिए वेदार्थ-मीमांसा को उपलब्ध करते हैं, जिसको कर्ममीमांसा और ब्रह्म-मीमांसा इस द्विविध रूप में पाते हैं। मीमांसा की धारा स्वतः अव्याहत रहने पर भी कालक्रम अनेक मत में वाद सम्मुख आये। अध्यात्म-साधना के मूल में देववाद है, और देववाद की भित्ति श्रद्धा है। यह श्रद्धा मानवचित्त की मौलिक वृत्ति है। जिसके मूल में आवेश है। इसीके साथ-साथ मानव-चित्त की एक और वृत्ति है जिसे ऊह या तर्क कहा जाता है। तर्क प्रत्यग् दृष्टि है और इसके मूल में जिज्ञासा है। इसका परिणाम आत्मवाद है। यह सत्य है, देव और आत्मा अतीन्द्रिय हैं। अतः देवदर्शन या आत्मदर्शन दोनों ही समान रूप से अति प्राकृत हैं। आत्मवाद में संशय निमित्तरूप में आघात—प्रतिघात के रूपमें परिव्याप्त है। आत्म-प्रसार का चरम परिणाम चेतना का विस्फुरण है, जिसका अपरपर्याय सत्य है। देववादी भी इसी परमात्मतत्त्व को हृदय के आवेग से बोधिग्राह्य वस्तु के रूप में प्राप्त करते हैं। वेद की भाषा में एक आवेग-कम्पित विप्र दूसरा पौरुष दृप्त ब्राह्मण है, एक के लिए प्राप्ति का साधन श्रद्धा एवं बोधि है तो दूसरे के लिए तर्क एवं बुद्धि है। इन दो मौलिक चित्तवृत्ति के आधार पर दो साधनाओं की धाराएँ प्रवहमान हैं। एक ऋषिधारा, दूसरी मुनिधारा। मुनिधारा "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्चेति" इस उपनिषद् वाक्य के परिप्रेक्ष्य में मननशील मुनि चिन्ता के आधार पर सहस्र-सहस्र-धाराओं में उपलब्ध हैं। दार्शनिक चिन्ता का इतिहास ब्राह्मण्यधारा से शून्य किसी बौद्धधारा में प्रवहमान हो रहा है, जिसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का विरोध तर्क के आघात-प्रतिघात से मीमांसित हो रहा है।

आचार्य सायण के सम्मुख अनेक मुनिधारायें उपलब्ध थीं, जिसके घात-प्रतिघात में ऋषिधारा या विप्रधारा म्लान एवं क्षीण थी। इस ऋषिदर्शन की परिणति अस्पष्ट हो चली थी। वेद-व्याख्या की समस्या बुक्क महीपति ने आवश्यक समझी और सायण को इसकी व्याख्या के लिए बाध्य किया, जिसका निर्देश भाष्य-भूमिका के मङ्गलाचरण में उपलब्ध है। इन्होंने प्रथम तैत्तरीय-संहिता का भाष्य लिखकर पुनः ऋग्वेद-भाष्य का व्याख्यान प्रस्तुत किया। इस प्रसङ्ग में ऋग्वेद की प्राथमिकता एवं अभ्यर्हित-रूपता के आधार पर प्रथम व्याख्यान की आवश्यकता प्रस्तुत करते हुए उसका समाधान भी इन्होंने प्रस्तुत किया। सायणाचार्य की जीवनी अनेक स्थानों में विस्तृतरूप से उपलब्ध होने के कारण जिज्ञासु व्यक्तियों को उस ओर ले जाना उचित नहीं समझकर ऋषिधारा के प्रकाशन की ओर इंगित करता हूँ। क्योंकि, अनेक वैदिक व्याख्यानों के रहने पर भी ऋषिधारा म्लान थी। अब परमेश्वर के अनुग्रह से अतीन्द्रिय वेद के दर्शन से ही ये ऋषि नाम से अभिहित हैं।

"ऋष् गतौ" (१२८७) इति धातोः "सर्वधातुभ्य इन्" (उ. सू. ५५७) "इगुपधात् कित्" (उ० सू० ५५७) वेदप्राप्त्यर्थं तयोऽनुतिष्ठतः पुरुषान् स्वयम्भूर्वेदपुरुषः प्राप्नोत्। तथा च श्रूयते अजान् ह वै पृश्नीस्तपस्य मानान् ब्रह्म स्वयम्भवभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन्" (तै० आ० २।९।१)।

अतीन्द्रिय वेद के परमेश्वरानुग्रह से प्रथम दर्शन के द्वारा ऋषियों की प्रेरणा से स्मरण किया जाता है, जैसे महाभारत में भी निर्दिष्ट है--

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥

(महाभारत शान्ति २१०।१९)

ऋषि आदियों के ज्ञानाभाव में प्रत्यवाय का स्मरण किया जाता है। यह बृहद्देवता से उद्धृत है—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद् वापि पापीया जायते तु सः॥

(बृहद्देवता ८।१३६)

ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि ।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ।।

वैदिकविधि का प्रकार यह है—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थं एव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ।।

इत्यादि प्रकार सर्वत्र स्पष्ट है ।

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"

इस श्रुति के आधार पर षडङ्ग वेदाध्ययन अनिवार्य माना गया है । भाष्य भूमिकाओं में संक्षेप में सभी विषयों का परिचय उपलब्ध है । अतः वेदाध्ययन से पूर्व इस भूमिका का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य है ।

गुरुपूर्णिमा
वि. सं.२०४१

—महाप्रभुलाल गोस्वामी

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
गणेशनमस्कार	१
विद्यागुरु विद्यातीर्थ को नमस्कार	,,
बुक्क महीपति के द्वारा वेदार्थ के प्रकाशन के लिए माधवाचार्य को आदेश	३
वेदार्थप्रकाशन के लिए संकल्प	५
वेदों के अर्थप्रकाशन में क्रमनिर्देश	६
प्रथमाध्याय का सम्प्रदायानुसार श्रवण की आवश्यकता	८
ऋग्वेद के अभ्यर्हित होने से उसके प्रथम व्याख्यान में पूर्वपक्ष	९
यजुर्वेद के प्रथम व्याख्यान में युक्ति-प्रदर्शन	१२
वेद की सत्ता का निराकरण (पूर्वपक्ष)	१८
वेद में प्रमाण और उसके लक्षण का खण्डन	१९
वेद की सत्ता का निरूपण (सिद्धान्तपक्ष)	२२
मन्त्रभाग के प्रामाण्य में पूर्वपक्ष	२४
वेद-प्रामाण्य-निरूपण	२९
जैमिनी के सूत्र के अनुसार वेद-प्रामाण्य में पूर्वपक्ष	२९
वेद-प्रामाण्य में सिद्धान्तपक्ष एवं जैमिनी के सूत्र के अनुसार सिद्धान्तपक्ष	४०
ब्राह्मणभाग का प्रामाण्य-निरूपण	६६
अर्थवादभाग के प्रामाण्य में पूर्व एवं उत्तरपक्ष	७२
वेद के पौरुषेयत्व के निराकरण-पूर्वक अपौरुषेय का प्रतिपादन	११०
मन्त्र-ब्राह्मण का स्वरूपनिरूपण	१२१
ब्राह्मण का लक्षण	१२८
ऋग्यजुःसाम का लक्षणनिरूपण	१३४
फलचिन्तनपूर्वक वेदाध्ययन की इतिकर्तव्यता का निरूपण	१३४
वेदार्थज्ञान की प्रशंसा	१५८
वेद के अनुबन्धचतुष्टय का निरूपण	१७८
वेद के छः अङ्ग	१८२
वेदाङ्ग शिक्षा का निरूपण	१८३
कल्प का निरूपण	१८६
व्याकरण	१८९
निरुक्त	१९९
छन्दः	२०२
ज्योतिष्	२०३
पुराणादि का वेदार्थज्ञान में उपयोग-निरूपण	२०५

श्रीमत्सायणाचार्यविरचिता

ऋग्वेदभाष्यभूमिका

'शारदी' हिन्दीव्याख्याविभूषिता

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदो यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

वागीश (ब्रह्मा) आदि देवता सब प्रकार के कार्यों के आरम्भ में जिसको नमन कर कृतकृत्य होते हैं, उस हस्तिमुख गणेश को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

आचार्य सायण ने गणेश को ही प्रथम नमस्कार करने के कारण का निर्देश करते हुए यह निर्दिष्ट किया है कि मानव ही नहीं वरन् ब्रह्मा आदि देवगण भी सभी कार्यों के उपक्रम में विघ्नेश्वर को नमन कर अपने कार्य में सफल होते हैं। अतः वेद जैसे विशिष्ट ग्रंथ के व्याख्यान के उपक्रम में कार्य की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से गजानन गणेश का नमस्कार आवश्यक है ॥१॥

गणेश को नमस्कार करने के बाद आचार्य सायण ने अपने विद्यागुरु को नमस्कार किया है। वेद जिनका निःश्वास स्वरूप है और जिसने वेदों से सम्पूर्ण विश्व की रचना की उस महेश्वर स्वरूप विद्यातीर्थ को मैं वन्दना करता हूँ ॥ २ ॥

'ज्ञानं तु शङ्करादिच्छेत्' इस वचन के अनुसार गुरु को महेश्वर स्वरूप ही माना है। इस श्लोक के ऊपर वाचस्पति की 'भामती' टीका के द्वितीय मंगलाचरण की छाया उपलब्ध है। भामतीकार ने कहा है—

'निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि ।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः' ।। २ ।।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि 'हे मैत्रेयि ! ऋग्वेदादि इस परब्रह्म के निःश्वासरूप हैं, जैसे पुरुष का निःश्वास-प्रश्वास बिना यत्न के ही सम्पन्न होता है, वैसे ही उस परब्रह्म से यह ऋग्वेदादि उत्पन्न हुए हैं' ।[१]

अत्यधिक परिश्रम करने पर भी देवर्षिगण सभी अर्थों के प्रकाशन में समर्थ जिस वेद का निर्माण करने में असमर्थ हैं, उस वेद का निर्माण निःश्वास-प्रश्वास के समान लीला से वह ही करता है, अतः निर्माणकर्ता अतिशय सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न है।

अतः निःश्वास के समान विना प्रयास ही वेद सिद्ध होने के कारण वेद को निःश्वासरूप कहा है, पञ्चमहाभूत इस ब्रह्म का वीक्षणस्वरूप है। पंचभूत की उत्पत्ति निःश्वास से अधिक प्रयत्नसाध्य होने के कारण एवं "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भूत-भौतिक प्रपञ्च मात्र को वीक्षणपूर्वक अवगतस्वरूप होने से वीक्षणपूर्वक इनकी सृष्टि कही गई। चर और अचर रूप विश्व इस ब्रह्म के स्मित के समान है। इस ब्रह्म की सुषुप्ति ही महाप्रलय है। नामरूपात्मक प्रपञ्च की सृष्टि, स्थिति और लय का कर्तृत्व होने से ब्रह्म अत्यन्त महिमाशाली है, इसलिये उसी की स्तुति करनी चाहिये। वाचस्पति मिश्र ने वेद के साथ भव का अभेद सूचित किया है, प्रकृत में भी गुरु और भव का अभेद है—

'षड्भिरङ्गैरुपेताय विविधैरव्ययैरपि ।
शाश्वताय नमस्कुर्मो वेदाय च भवाय च' ।। ३ ।। (भा०)

अर्थ—छः अङ्गों एवं अनेक अव्ययों से युक्त अपरिणामी नित्य वेद और महादेव को नमस्कार करता हूँ।

वेद के छ अङ्ग हैं—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) ज्योतिष और (६) छन्द।

---

१. अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेद इत्यादि । बृ० आ० उ० २।४।१०

यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशन् माधवाचार्य्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥

शंकर की नित्यता सभी वेद-पुराणादि में प्रसिद्ध ही है । शंकर के छ अंग निम्नलिखित हैं—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥

(१) सर्वज्ञता, (२) तृप्ति, (३) अनादिज्ञान, (४) स्वतन्त्रता, (५) सदा अलुप्तशक्ति, (६) और अनन्तशक्ति ।

वेद में च, वा आदि अव्यय प्रसिद्ध हैं । महेश्वर के दस अव्यय हैं ।

ज्ञानं विरागतैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
द्रष्टृत्वमात्मसबोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च ॥

(१) ज्ञान, (२) वैराग्य, (३) ऐश्वर्य, (४) तपः, (५) सत्य, (६) क्षमा, (७) धैर्य, (८) द्रष्टृत्व, (९) आत्मसंबोध, (१०) अधिष्ठातृत्व ॥ २ ॥

जिस विद्यातीर्थ गुरु की प्रेरणा से या उनकी कृपा दृष्टि से उनके रूप को धारण करते हुए बुक्क राजा ने वेदों के अर्थ को प्रकाशित करने के लिए माधवाचार्य को आदेश दिया ॥ ३ ॥

इस पद्य में यत् पद से विद्यातीर्थ का परामर्श किया गया है । पूर्व पद्य से यह व्यक्त है कि विद्यातीर्थ गुरु वेद के तत्त्ववेत्ता हैं । तृतीय पद्य से माधवाचार्य ने अपने गुरु की कृपा से ही उनके वेदतत्त्वज्ञ रूप को धारण किया था । यह उन्हीं की कृपा थी कि शिष्य वेदतात्पर्यवेत्ता था । 'दधद्' यह माधवाचार्य का विशेषण है । इसमें माधव ने अपने दीन-हीन एवं विनीत भाव को प्रदर्शित करते हुए गुरु की कृपा और अपना उनके प्रति अतिशय अनुराग व्यक्त किया है । प्रतिभा गुरु, देव आदि की कृपा से ही प्राप्त होती है । इसी अर्थ की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पद्य से की गई है—

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैतेऽकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

यत: और तत: पदों का आक्षेप कर प्रकृत में अर्थ बैठेगा। 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' (पा० सू० ३।४।१) इस वचन के अनुसार प्रधानीभूत आदिशत् इस भूतकालिक क्रिया के साथ सम्बन्ध होने के कारण वर्तमान काल में होने वाला लट् तथा उसके स्थान में शतृ प्रत्यय भूतकाल में हुआ है। अत: दधत् आदिशत् में कालभेद का प्रकृत में भ्रम होना नितान्त असङ्गत है। 'अतीत-तद्‌रूप-धर्तृ-कर्तृ-कर्तृकम् आदेशम्' अर्थात् अतीत तद्‌रूप धारण करने वाला कर्ता ही यहाँ आदेश का कर्त्ता है। तद्रूपं धृत्वा आदिशत् यह संक्षिप्तार्थ है।

यहाँ यह विचारणीय है कि बुक्क महीपति माधवाचार्य को वेदार्थ प्रकाशन के लिये आदेश देने का अधिकारी कैसे हो सकता है? इस असङ्गति को दृष्टि में रखकर उसके निरास के लिये बुक्क महीपति का यह विशषण सार्थक है।

क्योंकि वेदार्थज्ञ की उपासना ही वेदार्थज्ञता के सम्पादन में क्षम हो सकती है। अत: स्वामी विद्यातीर्थ की सेवा से बुक्क महीपति को वेदार्थ प्रकाशन में कौन समर्थ हैं--इसका ज्ञान हुआ। उपासक जिसकी उपासना करता है, वह उस उपास्य का रूप प्राप्त कर लेता है। जब तक यह ज्ञात नहीं है कि वेदार्थज्ञ कौन है, तब बुक्क महीपति का यह आदेश निरर्थक एवं असङ्गत है। इसी प्रकार गुरु की उपासना करने वाला ही गुरुत्व को प्राप्त कर सकता है। अतएव माधवाचार्य के गुरु स्वामी विद्यातीर्थ की उपासना करने वाला बुक्क महीपति गुरु की भाँति आज्ञा दे रहा है कि आप ही वेदार्थ के प्रकाशन में समर्थ हैं अत: वेदार्थ प्रकाशन करें ॥ ३ ॥[1]

---

१. इस श्लोक में जो यह कहा गया है कि बुक्कराय ने माधवाचार्य को वेदार्थ प्रकाशन के लिये आदेश दिया। इस विषय में शंका है कि माधवाचार्य को नहीं वरन् सायणाचार्य को आदेश दिया गया था, जिसकी पुष्टि में निम्न श्लोक मिलते हैं--

तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः।
आदिशत् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायातिसंग्रहात्।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥

(सामवेदसंहिता भाष्यावतरणिका पद्य—३७४)

ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्याथातिसंग्रहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्य्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ।। ४ ।।

पूर्वोक्त सायण के पदों से यह सिद्ध है कि सायण ने ऋग्वेदभाष्य की रचना की थी माधव ने नहीं, जैसा कि ऋग्वेदभाष्यभूमिका के मंगलाचरण से प्रतीत होता है, क्योंकि, तैत्तिरीयसंहिता में उद्‌धृत दो पद्य यहां होने चाहिए।

जो पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा है, उनकी अतिशय संक्षेप में अतिशय यत्नपूर्वक अर्थात् सावधानी से व्याख्या करके कृपालु माधवाचार्य वेद के अर्थ की व्याख्या के लिये उद्यत हुए हैं ।। ४ ।।

यत्कटाक्षेण तद्‌रूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ।
आदिशत् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ।।
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायाऽतिसंग्रहात् ।
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं व्याकरोत् खलु ।।
(काण्वसंहिता-भाष्यभूमिका पद्य ३७४)

अविद्याभानुसंतप्तो विद्यारण्यमहं भजे ।
यदर्ककरतप्तज्ञानामरण्यं प्रीतिकारणम् ।।
तत्कटाक्षेण तद्‌रूपं दधतो बुक्कभूपतेः ।
अभूद्धरिहरो राजा क्षीराब्धेरिव चन्द्रमाः ।।
(अथर्ववेद-भाष्यभूमिका)

इस पद्य से यह अवगत होता है कि अथर्ववेद भाष्यभूमिका के समय तक माधव विद्यारण्य हो चुके थे।

आदिशन्माधवाचार्य्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ।।
स प्राह नृपतिं राजन् ! सायणार्यो ममानुजः ।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्वे नियुज्यताम् ।।
इत्युक्तो माधवार्येण वीरबुक्कमहीपतिः ।
अन्वशात् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ।।
(तैत्तिरीय संहिता भाष्यभूमिका)

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ होत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ।। ५ ।।

वेद का कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की दृष्टि से दो भेद माना गया है। 'अथातो धर्म जिज्ञासा' (१।१।१) से लेकर 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' (१२।४।४७) इन बारह अध्यायों में वेदार्थ विचार किया गया है। कर्म और ज्ञान ये ही वेद के काण्ड के दो विभाजक हैं। वेदार्थ मीमांसा भी इसी कारण से पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अथवा कर्म मीमांसा और ब्रह्म मीमांसा इन दो भेदों से भिन्न मानी गयी है। यह सत्य है कि कर्म, उपासना एवं ज्ञान के अनुसार वेद के तीन काण्ड माने गये हैं, किन्तु उपासना ज्ञान काण्ड के अन्तर्गत होने के कारण पूर्वाचार्यों ने प्रधान रूप से पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा के रूप में दो ही विभाग माना है। परम पुरुषार्थ ही ज्ञानलभ्य है और यह वेदान्ताध्ययनसापेक्ष है, उत्तर मीमांसा ही वेदान्त है। अवशिष्ट धर्म, अर्थ और काम ये तीन कर्माधीन अनुष्ठानसापेक्ष पूर्व मीमांसा से साध्य है। इसलिये इस सूत्र में पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा के रूप में दो ही भेद प्रदर्शित किया गया है।। ४ ।।

यज्ञों में अध्वर्यु ऋत्विक् सम्बन्धी कर्म की प्रधानता होने के कारण पहले यजुर्वेद का व्याख्यान किया। इसके बाद अब होता सम्बन्धी कर्म के लिये ऋग्वेद का व्याख्यान करेंगे ।। ५ ।।

आचार्य सायण ने ऋग्वेद के व्याख्यान से पूर्व यजुर्वेद का प्रथम व्याख्यान किया है। ऋग्वेद के प्रथम होने से यह अभ्यर्हित है और अभ्यर्हित का प्रथम सन्निवेश होने से इसी का प्रथम व्याख्यान होना उचित है। इस स्थिति में ऋग्वेद से पूर्व यजुर्वेद का व्याख्यान सामान्य दृष्टि से अनुचित प्रतीत होता है। इसलिये आचार्य ने यजुर्वेद के प्रथम व्याख्यान के कारण का निर्देश करना आवश्यक समझ कर इन उपक्रम श्लोकों में ही इसका निर्देश किया है। तैत्तिरीय-संहिता-भाष्यभूमिका में ही आचार्य सायण ने इस विषय का प्रतिपादन किया है उन्होंने लिखा है कि वेद के दो काण्ड हैं—एक पूर्वकाण्ड और दूसरा उत्तरकाण्ड। पूर्वकाण्ड में नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध इन चार प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन किया गया है। नित्य कर्म का अनुष्ठान न करने से प्राय-

श्चित्त होता है। इन चतुर्विध कर्मों के अनुष्ठान से बुद्धि शुद्ध आदि होकर ब्रह्मज्ञान की इच्छा के उत्पादन से ब्रह्मज्ञान होता है। आत्यन्तिक पुरुषार्थ सिद्धि के लिये उत्तरकाण्ड की आवश्यकता है। कर्मकाण्ड की पूर्व में प्रसक्ति होती है। यजुर्वेद के बिना कर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है। अन्य कर्मों से पूर्व दर्शपूर्णमास यज्ञ का प्रथम संपादन अवश्य हो जाता है, क्योंकि वह प्रकृतिभूत है, और वह अन्य किसी की अपेक्षा नहीं करता है। प्रकर्ष से अङ्गों का उपदेश होने के कारण वह प्रकृति हैं। ईसमें प्रकर्षता उपदेश की सकल अङ्गी विषयता ही है। अग्निहोत्र इष्टि और सोम के भेद से प्रकृति तीन प्रकार की है। इन तीनों में सभी अङ्गों का उपदेश है। इनमें भी दर्शपूर्णमास इष्टि आदि की प्रकृति होने के कारण इसी का प्रथम उपदेश आवश्यक होता है क्योंकि इष्टि विकृति है। अतः परम्पराक्रम में दर्शपूर्णमास की अपेक्षा उसमें रह जाती है। इस तरह दर्शपूर्णमास आदि हुआ और विना यजुर्वेद के उसका ज्ञान सम्भव नहीं है इसलिये यजुर्वेद की निरपेक्ष रूप से प्रधानता होने के कारण यजुर्वेद का प्रथम व्याख्यान आवश्यक माना गया है, क्योंकि कर्मों के स्वरूप का निरूपण यजुर्वेद में ही किया गया है। विशेष अपेक्षा होने पर अनुवाक आदि जो वेद में कहे गये हैं उनका ज्ञान आवश्यक होता है। अतः ऋग्वेद का व्याख्यान हुआ। उसके बाद स्तोत्र के लिए सामवेद का व्याख्यान है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यजुर्वेद आधारभूमि है और ये दोनों वेद चित्रस्थानीय हैं। यदि भूमि न रहे तो चित्र किस पर बनेगा। कर्म में यजुर्वेद की प्रधानता है, क्योंकि यजुर्वेद में दर्शपूर्णमासेष्टि आरम्भ में कही गई है। यजुर्वेद के अनादिसिद्ध याज्ञिकों की समाख्या के आधार पर यजुः को अध्वर्युवेद माना है। दर्शपूर्णमासेष्टि के मन्त्र तीन प्रकार के हैं—आध्वर्यंव, यजमान और हौत्र। इनमें याजमान और हौत्र चित्रस्थानीय हैं और आध्वर्यंव भित्तिस्थानीय हैं। अतः हौत्र-सम्पादक ऋग्वेद को भित्तिस्थानीय यजुर्वेद की अपेक्षा है। इसी की सूचना प्रस्तुत मंगलाचरण में दी गई है।

उक्त कथन का समर्थन सायणाचार्य के सामवेदभाष्य के इस उपक्रम से हो रहा है—

एतस्मिन् प्रथमोऽध्यायः श्रोतव्यः सम्प्रदायतः ।
व्युत्पन्नस्तावता सर्वं बद्धुं शक्नोति बुद्धिमान् ॥ ६ ॥

यज्ञं यजुर्भिरध्वर्युर्निर्मिमीते ततो यजुः ।
व्याख्यातं प्रथमं पश्चादृचां व्याख्यानमीरितम् ॥
साम्नामृगाश्रितत्वेन सामव्याख्याऽथ वर्ण्यते ।
अनुतिष्ठासु जिज्ञासावशाद् व्याख्याक्रमो ह्ययम् ॥
जाते देहे भवत्यस्य कटकादि विभूषणम् ।
आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा ॥
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम् ।
सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः ॥[१]

इस ऋग्वेद में सम्प्रदाय के अनुसार प्रथम अध्याय श्रोतव्य है। इतना सुनने से ज्ञानवान् होकर बुद्धिमान् व्यक्ति सम्पूर्ण ऋग्वेद को समझने में समर्थ हो सकता है ॥ ६ ॥

प्रथम अध्याय के व्याख्यान में ही आचार्य सायण ने अपेक्षित ज्ञातव्य विषयों का सन्निवेश कर दिया है। जिससे आगे के अध्यायों के मन्त्रों का ज्ञान सहज रूप में सम्भव हो जाय। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि व्याख्याकार प्रथम उपक्रम में ही उन विषयों का सन्निवेश कर देता है; जिससे आगे के अर्थों को समझने में किसी प्रकार की आपत्ति न हो।

इस मङ्गलाचरण में विषय-वस्तु का निर्देश किया गया है। सम्प्रदाय के अनुसार इस प्रथम अध्याय की भली-भाँति अवगति होने पर आगे के अध्यायों का सम्प्रदाय के अनुसार स्वयं ही अवगति होती रहती है। व्युत्पन्न व्यक्तियों के प्रथम अध्याय में ही अधिक श्रम करना आवश्यक है अन्यथा आगे के अध्यायों के अर्थ की अवगति में अतिशय काठिन्य होगा। इसके द्वारा श्रद्धापूर्वक सम्प्रति प्रतिपादित विषय के ज्ञान के प्रति उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; अपितु आचार्य का उपदेश मेरे कल्याण का साधन है; इस दृष्टि से ग्रहण करना चाहिए। प्रतिपादित विषय आगे की पंक्तियों की अवगति में सहायक होंगे। यथोद्देश पक्ष के अनुसार प्रतिपादित विषय को बुद्धिस्थ रखना आवश्यक होगा क्योंकि वह आगे के मन्त्रों के अर्थ ज्ञापन में सहायक होगा ॥ ६ ॥

अभ्यर्हितत्वादृग्वेदस्यैव व्याख्यानमादावुचितमिति पूर्वपक्षः।

अत्र केचिदाहुः—ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्र आम्नातत्वाद् 'अभ्यर्हितं पूर्वम्' इति न्यायेन अभ्यर्हितत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्; प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते विस्पष्टम्—

'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥' (ऋ० सं० १०। ९०।९) इति।

तस्मात् 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० सं० १०।९०।९) इत्युक्तात् परमेश्वरात्, यज्ञाद् यजनीयात् पूजनीयात्। सर्व्वहुतः सर्व्वैर्हूयमानात्।

सायण ने सर्वप्रथम कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता का व्याख्यान किया है। इसमें कुछ लोगों का कहना है कि सभी वेदों में ऋग्वेद प्राचीनतम है अर्थात् प्राथमिक रूप से कहा गया है; अतः उसकी प्राथमिकता के कारण सर्वापेक्षा यह सम्मानित है और सम्मानित का पूर्व में व्याख्यान होना उचित है, इसलिये सभी वेदों से पूर्व ऋग्वेद का ही व्याख्यान होना चाहिए। ऋग्वेद के प्रथम होने का उल्लेख पुरुषसूक्त में स्पष्ट रूप से किया गया है।

आशय यह है कि अभ्यर्हित अर्थात् सम्मानित का प्रथम में सन्निवेश होता है "अभ्यर्हितं पूर्वम्" ऋग्वेद की पूजनीयता वेद के द्वारा ही सुस्पष्ट उल्लिखित है, अतः अभ्यर्हितत्व हेतु का सद्भाव ऋग्वेद में होने से एवं प्रथम के त्याग में कोई प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि सभी वेदों का व्याख्यान सायण को अभीष्ट है। अपने कथन की परिपुष्टि के लिये पुरुषसूक्त के मन्त्रों को उद्धृत किया "सहस्रशीर्षा पुरुषः" (ऋ० १०।९०।१)। इसके द्वारा कथित जो परमेश्वर यज्ञ के द्वारा यजनीय और सभी लोगों के द्वारा आह्वान किये गये उससे ऋचाएँ साम छन्दः (अथर्ववेद) उत्पन्न हुए, यजुर्वेद उत्पन्न हुआ। इस कथन के द्वारा यह सिद्ध हो रहा है कि ऋग्वेद सभी की अपेक्षा प्रथम है।

यह सत्य है कि इन्द्रादि का ही वहाँ आह्वान होता है, फिर भी परमेश्वर ही इन्द्रादि स्वरूप से अवस्थित होने के कारण इन्द्रादि स्वरूप से उसका आह्वान

यद्यपि इन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः। तथा च मन्त्रवर्णः--

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

(ऋ० सं० १।१६४।४६) इति।

वाजसनेयिनश्चामनन्ति--

'तद् यद् इदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवम्।
एतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्व्वे देवाः' (बृ० उ० १।४।६)

इति। तस्मात् सर्व्वैरपि परमेश्वर एव हूयते।

भी विरुद्ध नहीं है। इन्द्रादि के द्वारा परमेश्वर का ही आह्वान होता है। इसका समर्थन 'इन्द्रं मित्रम् आदि ऋ० सं० के १।१६४।४६' से हो रहा है।

उस एक सत्ता को कोई रुद्र कहता है, कोई मित्र, कोई वरुण, कोई अग्नि, कोई उसकी पूजा सुपर्ण (अच्छे पंखों वाला गरुड़) ज्योतिः कहकर करता है। वह एक परमेश्वर तत्त्व है, उसे अग्नि कहो, यम कहो, वायु कहो, कोई भेद नहीं।

आशय यह है कि सर्वात्मक होने से सभी देवताओं के नाम से मन्त्रों में एक ही ब्रह्म स्तुत होता है। नाम के भेद से वस्तु का भेद नहीं होता है। सर्वात्मक ब्रह्म की अनन्त शक्ति से अनन्त क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं। क्रियाभेद की ओर दृष्टि रखकर स्तोता विभिन्न नाम से एक ही ब्रह्म की स्तुति करता है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्यसुपर्ण, गरुड, यम, मातरिश्वा आदि विभिन्न नाम से अनेक ऋग्वेद के मन्त्रों में एक ही ब्रह्म की स्तुति की जाती है। लोगों की यह धारणा है कि भारतीय सभ्यता में ईश्वर का अनेकत्व ही मन्त्रों से सिद्ध है। ईश्वर का एकत्व भारतीय ज्ञान से परे है। ईश्वर का अस्तित्व एवं एकत्व आदि का प्रतिपादन—यह मानव जाति की सभ्यता के आरम्भ-ग्रन्थ ऋग्वेद से चलता है। वाजसनेयि संहिता में वाजसनेयियों ने भी इस प्रकार कहा है--इसका याग करो, इसका याग करो, यह सब परमेश्वर की विसृष्ट अर्थात् रचना है क्योंकि वही सब देवताओं के रूप में अवस्थित है (बृ० १।४।६) इस कथन से यह स्पष्ट है कि एक परमेश्वर का ही आह्वान होता है।

न केवलमृचां पाठप्राथम्येन अभ्यर्हितत्वं किन्तु यज्ञाङ्गदार्ढ्यं हेतुत्वादपि। तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति--

'यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्, यद् ऋचा तद् दृढम् (तै० सं० ६।५।१०।३) इति।

तथा च सर्ववेदगतानि ब्राह्मणानि स्वाभिहितेऽर्थे विश्वासदार्ढ्याय 'तदेतद्‌ऋचा अभ्युक्तम्' इति ऋचमेव उदाहरन्ति। मन्त्रकाण्डेष्वपि यजुर्वेदगतेषु तत्र तत्र अध्वर्युणा प्रयोज्या ऋचो बहव आम्नताः। साम्नां तु सर्व्वेषाम् ऋगाश्रितत्वं प्रसिद्धम्। आथर्वणिकैरपि स्वकीयसंहितायाम् ऋच एव बाहुल्येन अधीयन्ते। अतोऽन्यैः सर्ववेदैरादृतत्वादभ्यर्हितत्वं प्रसिद्धम्।

छन्दोगाश्च प्राथम्ये सनत्कुमारं प्रति नारदवाक्यमेवमामनन्ति—

ऋचाओं का पाठमात्र प्रथम में होने के कारण ही ऋग्वेद का सबकी अपेक्षा सम्मानित होना सिद्ध नहीं होता, अपितु यज्ञ के अंगों की दृढता सम्पादन के कारण भी उसका सर्वाधिक सम्मानित होना सिद्ध होता है। तैत्तिरीय शाखा के अध्येता ने भी इसको कहा है--यज्ञ का जो कार्य सामवेद या यजुर्वेद के द्वारा सम्पादित होता है वह शिथिल होता है, किन्तु जो ऋक् के द्वारा होता है वह दृढ़ होता है। उसी तरह सभी वेदों के ब्राह्मण ग्रंथों के द्वारा, अपने द्वारा कथित अंश में विश्वास की दृढ़ता से ये विषय ऋग्वेद से कहे गये हैं यह कहकर ऋचाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। यजुर्वेद के मन्त्र भाग में भी अनेक स्थानों पर अध्वर्यु के द्वारा प्रयोग करने लायक ऋचाएं कही गई हैं। सामवेद के सभी मन्त्र ऋचा के आश्रित हैं यह प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेद के अध्येता भी अपनी संहिता में अधिकतर ऋचा का ही अध्ययन करते हैं इसलिये यजुः, साम और अथर्व इन तीनों वेदों के द्वारा आदृत होने के कारण ऋग्वेद का सम्मानितत्व सिद्ध होता है अर्थात् ऋग्वेद सभी की अपेक्षा सम्मानित है।

छान्दोग्योपनिषद् में ऋग्वेद की प्राथमिकता को ध्यान में रखकर ही सन-

'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छा० उ० ७।१।२) इति। मुण्डकोपनिषद्यपि एवमाम्नायते—

'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' (मु० उ० १।१।५) इति। तापनीयोपनिषद्यपि मन्त्रराजपादेषु क्रमेणाध्ययनमेवमामनन्ति—

'ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति' (नृ० ता० उ० १।२) इति।

एवं सर्व्वत्र उदाहरणीयम्। तस्माद् ऋग्वेदस्याभ्यर्हितस्यादौ व्याख्यानमुचितमिति।

यज्ञानुष्ठानार्थत्वाद् यजुर्वेदस्यैवादौ व्याख्यानमित्युत्तरपक्षः।

तान् प्रति एतदुच्यते—

अस्तु एवं सर्व्ववेदाध्ययनतत्परायणब्रह्मयज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम्। अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद्व्याख्यानमेव आदौ युक्तम्।

त्कुमार के प्रति इस रूप में नारद वाक्य को कहा है— भगवन्, मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों का अङ्ग और शाखाओं के साथ अध्ययन किया है। मुण्डकोपनिषद् में भी इस प्रकार कहा गया है—ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद (का मैंने अध्ययन किया है)। तापनीयोपनिषद् के मन्त्र-राजपाद में क्रमपूर्वक अध्ययन के विषय में कहा गया है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों के अङ्ग एवं शाखा सहित चार पाद होते हैं।

इस प्रकार सर्वत्र उदाहृत है (और उन-उदाहरणों में ऋग्वेद का प्रथम निर्देश है) इसलिये अभ्यर्हित ऋग्वेद का व्याख्यान प्रारम्भ में उचित है। इस ऋग्वेद के प्रथम अध्याय को सम्प्रदाय के अनुसार सुनना चाहिये, इतने से ही व्युत्पन्न हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति अपने आप पूरे ऋग्वेद को समझ सकता है।

पूर्वपक्ष-ऋग्वेद के प्रथम व्याख्यान के लिए कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ भी वेदों की चर्चा हुई है वहाँ ऋग्वेद का उल्लेख सर्वप्रथम हुआ है और सभी वेदों में ऋग्वेद को ही श्रेष्ठ माना है, इसलिये इसी का व्याख्यान पहले होना चाहिये।

उत्तरपक्ष—यह ठीक है कि सभी वेदों के अध्ययन उनके पारायण, ब्रह्म-

तत्प्राधान्यं च काचिदृगेव आह—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥

(ऋ० सं० १०।७१।११) इति ।

एतस्या ऋचस्तात्पर्यं निरुक्तकारो यास्कः सङ्क्षिप्य दर्शयति 'इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे' इति । पुनरपि स एवं प्रथमं पादं विवृणोति—'ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान् होतर्गर्चनी' (नि० १।८) इति । अस्यायमर्थः—त्वशब्दः एकशब्दपर्य्यायो होतृविशेषणम् । होतृनामक एक ऋत्विग् यज्ञकाले स्वकीयवेदगतानाम् ऋचां पुष्टिं कुर्व्वन्नास्ते । भिन्नप्रदेशेष्वाम्नातानाम् ऋचां सङ्घमेकत्र सम्पाद्य तावदिदं शस्त्रमिति क्लृप्तिं करोति । सेयं पुष्टिः । अर्चनीत्यमुमर्थमृक्छब्द

यज्ञ, जप आदि में ऋग्वेद को ही प्रथम कहा गया है। किन्तु अर्थज्ञान, यज्ञानुष्ठान को दृष्टि में रखकर ही होता है, इसलिये यज्ञानुष्ठान में यजुर्वेद की ही प्रधानता है, अतः आरम्भ में यजुर्वेद का व्याख्यान करना उचित ही है। यजुर्वेद की प्रधानता को निम्नलिखित ऋक् में भी प्रदर्शित किया गया है–"ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातिविद्यां यज्ञस्य मात्रां विभिमीत उ त्वः ॥ (ऋ० १।७१।११)

निरुक्तकार यास्क ने इस ऋचा का आशय संक्षेप में इस प्रकार प्रदर्शित किया है। ऋत्विक् के कर्मों का विनियोग इस मन्त्र से कहा गया है। विनियोग का अर्थ प्रतिनियम होता है अर्थात् एक ऋत्विक् इस कर्म को, करे अन्य व्यक्ति अन्य कर्म को करे और अन्य व्यक्ति अन्य कर्म को विनियोगः प्रतिनियमः—एक ऋत्विगिदं कर्म करोत्वन्यः इदमन्यः (इदमिति—स्कन्दस्वामी)। पुनः यास्क ने प्रथम पाद का विवरण प्रस्तुत किया है। एक ऋत्विक् अर्थात् होता ऋचाओं का पुष्टि-साधन करता है। प्रकृत में त्व शब्द एक शब्द का पर्याय है। यह होता का विशेषण है। होता नामक एक ऋत्विक यज्ञ के समय अपने वेद की ऋचाओं की पुष्टि करता है। भिन्न प्रदेशों में कहे गये ऋक् समुदाय को एकत्र संगृहीत कर 'इतना यह शास्त्र है' यह निर्णय करता है। इसी को पुष्टि कहा

आचष्टे। अर्च्यते प्रशस्यतेऽनया देवविशेषः क्रियाविशेषस्तत्साधन-विशेषो वेत्यृक्छब्दव्युत्पत्तिरिति।

अथ द्वितीयं पादं विवृणोति--'गायत्रमेको गायति शक्वरीषूद्-गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्म्मणः शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेस्तद् यदाभिर्वृत्रमशकद् हन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वत्वमिति विज्ञायते' इति। अस्यायमर्थः--उद्गातृनामक एक ऋत्विग् गायत्रशब्दाभिधेयं स्तोत्रं शक्वरीशब्दाभिधेयास्वृक्षु गायति, धातूनामनेकार्थत्वेन स्तुतिक्रिया-वाचिनो गायतिधातोरुत्पन्नोऽयं गायत्रशब्दः। शक्वरीशब्दस्तु शक्नोति

जाता है। अर्चनी का अर्थ ऋक् होता है। ऋक् शब्द के षष्ठी के बहुवचन का रूप है ऋचाम्। ऋक् शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार होता है अर्चनार्थक या स्तुत्यर्थक ऋच् धातु से करण वाच्य में क्विप् प्रत्यय कर ऋक् शब्द निष्पन्न होता है। ऋक् शब्द का अर्थ अर्चनी है, जिसके द्वारा द्रव्य-विशेष, क्रियाविशेष या क्रिया के साधनविशेष की अर्चना या प्रशंसा की जाय, जिसके द्वारा अर्चना की जाय वह अर्चनी है।

द्वितीय पाद का व्याख्यान करते हैं—'गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु' एक ऋत्विक् अर्थात् उद्गाता शक्वरी नामक ऋचाओं से स्तुतिगान करता है। गायत्र शब्द स्तुत्यर्थक गै धातु से निष्पन्न होता है। गै धातु से करण वाच्य में ष्ट्रन् प्रत्यय कर गायत्र शब्द निष्पन्न होता। यद्यपि गै धातु का अर्थ गान करना होता है, किन्तु प्रकृत में स्तुति करना माना गया है। अतः इसका अर्थ है स्तुति अर्थात् जिसके द्वारा स्तव किया जाय।

शक्वरी शब्द कतिपय ऋचाओं का बोधक है (S'akvarti--Name of particular verses or hymns (specially of the Mahānāmnī verses belonging to the S'akvara Samān)--Monier Williams).

शक् धातु से वनिप् प्रत्यय कर शक्वन् शब्द निष्पन्न होता है और स्त्रीलिंग में ङीप् और नकार हो कर शक्वरी शब्द निष्पन्न होता है जिसके द्वारा समर्थ हो या सामर्थ्य उत्पन्न हो उसे शक्वरी कहा जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए यास्क ने कहा है, क्योंकि शक्वरी नामक ऋचाओं से इन्द्र वृत्र को मारने में

घ'तोऽस्पन्नः, वृत्रं शत्रुं हन्तुं शक्नोति आभिर्ऋग्भिरित्येषा व्युत्पत्तिः कस्मिंश्चित् ब्राह्मणे विज्ञायत इति।

अथ तृतीयं पादं विवृणोति--'ब्रह्मैको जाते-जाते विद्यां वदति, ब्रह्मासर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति इति। अस्यायमर्थः--'ब्रह्मानामक एक ऋत्विग् जाते-जाते तदा-तदा उत्पन्ने यज्ञे प्रस्तुते प्रणयनादिकर्म्मणि विद्याम् अनुज्ञां वदति; ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि' इत्येवं सम्बोधितः सन् 'ओं प्रणय' इत्यनुजानाति। स च ब्रह्मा वेदत्रयोक्तसर्व्वकर्म्माभिज्ञः। तस्माद् योग्यतां दृष्ट्वा तत्तदनुज्ञातुं सति प्रमादे समाधातुं च समर्थ इति। तच्च सामर्थ्यं छन्दोगा आमनन्ति--

'एष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्त्तनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा, वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराम् (छा० उ०-४।१६।१-२) इति।

समर्थ हुआ था इसी से शक्वरी ऋचाओं का शक्वरीत्व अर्थात् सामर्थ्य परिज्ञात होता है। (कौषीतकी ब्राह्मण में शक्वरी मन्त्र की सहायता से इन्द्र ने वृत्र का वध किया, यह कथा मिलती है। 'यत्तासामभिष्टुतिद्वारा शक्तिजनकत्वम् तदेव शक्वरीत्वमिति')। उद्गाता नामक एक ऋत्विक् गायत्र शब्द के द्वारा कथित स्तोत्र शक्वरी शब्द के द्वारा कथित ऋचाओं में गाता है। उद्गाता नामक एक ऋत्विक् धातु अनेकार्थक होने से स्तुति-क्रिया-वाचक गायत्र शब्द निष्पन्न होता है। वृत्र शत्रु को मारने में जिन ऋचाओं द्वारा समर्थ होता है उनको ब्राह्मण ग्रन्थ के द्वारा जाना जाता है।

ब्रह्मा नामक एक ऋत्विक् समय-समय पर प्रायश्चित्तरूप कर्तव्य कर्म के उपस्थित होने पर उस विषय में अपना ज्ञान व्यक्त करता है। ब्रह्मा सर्वविद् होता है। आशय यह है कि यज्ञ के समय किसी प्रकार की त्रुटि या प्रमाद होने पर क्या कर्त्तव्य है इसकी सूचना ब्रह्मा देता है। अर्थात् कौन सा प्रायश्चित्त कर्तव्य कोटि में आता है इसकी सूचना ऋत्विजों को देता है। अर्थात् प्रणयन आदि कर्मों का अनुज्ञात करता है, जैसे ब्राह्मण ! जल ले जाऊँगा। इस प्रकार संबोधित होने पर वह कहता है ले जाओ। ब्रह्मा तीनों वेदों का ज्ञाता एवं

कृत्स्नो यज्ञः प्रमादराहित्याथ मनसा सम्यगनुसन्धेयः वाचा च वेदत्रयोक्तमन्त्राः पठनीयाः। तत्र होत्रादयस्त्रयो मिलित्वा वाग्रूपं यज्ञमार्गं संस्कुर्वन्ति, ब्रह्मा त्वेक एव मनोरूपं यज्ञमार्गं कृत्स्नमपि संस्करोति। तस्मादस्यास्ति सामर्थ्यमिति।

अथ चतुर्थं पादं विवृणोति--'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकोऽध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्ति अध्वरस्य नेता' इति। अस्यायमर्थः--अध्वर्युनामक एक ऋत्विग् यज्ञस्य मात्रां स्वरूपं विमिमीते विशेषणं निष्पादयति। मीयते निर्मीयते इति मात्रा स्वरूपम्। तन्निष्पादकत्वं च अध्वर्योर्नामनिर्वचनादवगम्यते। 'अध्वर्युः' इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तमकारं

तीनों वेद में कथित कर्म का जान--ार होता है। ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार वह यज्ञ की चिकित्सा करता है अर्थात् यज्ञ के अन्न की विकलता को दूर करता है। इसलिये योग्यता देखकर प्रमाद होने पर उसके समाधान में समर्थ ब्रह्मा होता है। ब्रह्मा के सामर्थ्य की प्रशस्ति छान्दोग्योपनिषद् में मिलती है। वही यज्ञ है, वाणी और मन उसके मार्ग हैं। उनमें से एक मार्ग का संस्कार ब्रह्मा मन के द्वारा करता है और दूसरे का सस्कार अध्वर्यु और उद्गाता वाणी के द्वारा करता है। सम्पूर्ण यज्ञ प्रमाद अर्थात् त्रुटिरहित सम्पादित हो इस दृष्टि से मन से भलीभांति निरीक्षण करना चाहिये और वाणी के द्वारा तीनों वेद में कहे गये मन्त्रों का पाठ करना चाहिये। होता, उद्गाता और अध्वर्यु ये तीनों मिलकर वाणी और यज्ञमार्ग का संस्कार करते हैं। ब्रह्मा अकेला ही सकल मनोरूप यज्ञमार्ग का संस्कार करता है। अतः ब्रह्मा का सामर्थ्य सिद्ध है।

चतुर्थ पाद का विवरण प्रस्तुत करते हैं—अध्वर्यु नामक एक ऋत्विक् यज्ञ के स्वरूप या शरीर का विशेषरूप से निर्माण करता है अर्थात् अध्वर्यु विभिन्न रूप से यज्ञ की इतिकर्तव्यताओं का सम्पादन करता है। अध्वर्यु शब्द का अर्थ जो यज्ञ को उसके साधन या अनुष्ठान के साथ युक्त करता है तथा जो यज्ञ की समाप्ति का विधायक है उसे अध्वर्यु कहा जाता है। नेता शब्द का अर्थ समाप्ति-विधायक है। अध्वर शब्द दो प्रकार से निष्पन्न है—'अध्वरम्

पुनः प्रक्षिप्य 'अध्वरयुः' इति नाम सम्पादनीयम् । अध्वरं युनक्ति इति अवयवार्थः अध्वरस्य नेता इति तात्पर्य्यार्थे इति ।

एतदेव अभिप्रेत्य अध्वर्युवेदस्य यागनिष्पादकत्वद्योतकं निर्वचनं यास्को दर्शयति ।

"मन्त्रा मननात्, छन्दांसि छादनात्, स्तोमः स्तवनात् यजुर्यजतेः' (नि० ७।१२) इति ।

युनक्ति' अर्थात् जो अध्वर को युक्त करे । यज्ञ के उपकरण के साथ अथवा अनुष्ठान के साथ । इसके द्वारा यह कहा गया है कि जो यज्ञ का साधन सम्पन्न करे या जो अनुष्ठानरत है वह अध्वर्यु है । अथवा अध्वरम् याति या अध्वरम् यापयति अर्थात् जो यज्ञ का नेता है अर्थात् जो यज्ञ को समाप्ति तक पहुँचा दे । फलतः यज्ञ की समाप्ति का विधायक अर्थात् जिस पर यज्ञ का सम्पादन निर्भर करता है वह अध्वर्यु है अर्थात् अध्वर्यु नामक एक ऋत्विक यज्ञ के सम्पूर्ण स्वरूप का निष्पादन करता है । मीयते — निर्मीयते इस व्युत्पत्ति के द्वारा यहाँ मात्रा शब्द स्वरूप अर्थ का बोधक है । अध्वर्यु यज्ञ के स्वरूप का निष्पादक है । इसको यास्क ने प्रदर्शित किया है अध्वरयु शब्द ही अध्वर्यु होता है । पृषोदरादि सूत्र के द्वारा अकार का लोप होता है । मनन से मन्त्र कहलाये । छादन से छन्द कहलाये अर्थात् मृत्यु से भीत देवताओं ने इन छन्दों से अपने को छादन कर लिया था इससे छन्द कहलाये । स्तवन से स्तोम कहलाये और यजन क्रिया के कारण यजुः नाम पड़ा । ऐसी स्थिति में यजुर्वेद में निष्पन्न यज्ञ शरीर को आश्रय कर उसके लिये अपेक्षित स्तोत्र और शस्त्र ये दो अवयव सामवेद और ऋग्वेद के द्वारा पूर्ण किये जाते हैं इसलिये ऋग्वेद और सामवेद का उपजीव्य यजुर्वेद होता है । अतः आश्रयभूत यजुर्वेद का प्रथम व्याख्यान उचित है । इसके बाद सामवेद ऋग्वेद के आश्रित हैं अतः सामवेद से पहले ऋग्वेद का व्याख्यान उचित होने से ऋग्वेद की व्याख्या की जा रही है ।

आशय यह है कि इस मन्त्र में प्रधान ऋत्विजों के मध्य में कौन ऋत्विज किस कार्य का सम्पादन करेगा इसी का वर्णन किया गया है । यज्ञ काल में

एवं सति अध्वर्यु सम्बन्धिनि यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्य्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम् । तत ऊर्द्ध्वं साम्नामृगाश्रितत्वाद् उभयोर्मध्ये प्रथमत ऋग्व्याख्यानं युक्तम् इति ऋग्वेद इदानीं व्याख्यायते ।

लक्षणप्रमाणराहित्याद् वेदस्यासद्भाव इति पूर्वपक्षः ।

ननु वेद एव तावन्नास्ति, कुतस्तदवान्तरविशेष ऋग्वेदः ? तथा हि, कोऽयं वेदो नाम ? न हि तत्र लक्षणं प्रमाणं वाऽस्ति । न च तदुभयव्यतिरेकेण किञ्चिद् वस्तु प्रसिध्यति । 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इति न्यायविदां मतम् ।

प्रधान ऋत्विक् चार होते हैं—होता, उद्गाता, ब्रह्मा एवं अध्वर्यु । होता अनेक मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ यज्ञ स्थल में देवता का आह्वान करता है। स्पष्ट एवं उच्च स्वर में वह मन्त्रोच्चारण करता है उसके पाठ करने योग्य अनेक मन्त्र ऋग्वेद के होते हैं। वह ऋग्वेद का पारद्रष्टा होता है। उद्गाता गान करता हुआ देवता की स्तुति करता है। शक्वरी नामक कतिपय मन्त्र हैं, उन मन्त्रों को स्वरबद्ध कर गाता हुआ देवता की स्तुति करता है—यही सामगान है। उद्गाता सामवेद का विशेषज्ञ है। ब्रह्मा सभी कर्मों का निरीक्षण करता है। कहीं पर भूल या भ्रान्ति होने पर उसका संशोधन किस प्रकार होगा इसकी सूचना देता है। वह सभी से श्रेष्ठ है और तीन वेदों का ज्ञाता है। अध्वर्यु पुरोडाश प्रस्तुत करने से आरम्भ कर आहुति दान पर्यन्त सभी कार्यों को करता है। वह यज्ञ का निर्माता है। सभी कार्यों को मुख्यतया यजुर्वेद की सहायता से करता है वह यजुर्वेद का विशेषज्ञ होता है। इस मन्त्र में 'त्व' शब्द का अर्थ एक व्यक्ति होता है।

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि जब वेद ही नहीं तो वेद के अवान्तर विशेष ऋग्वेद का प्रश्न ही नहीं उठता। इस स्थिति में यह विचारणीय है कि वेद क्या है ? वेद का न कोई लक्षण है न कोई प्रमाण है। अतः विना लक्षण और प्रमाण के किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि न्यायवेत्ताओं

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणाविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत् ? न, मन्वादिस्मृतिषु अतिव्याप्तेः। समयबलेन 'सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्य आगमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात्।

'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणाददोष इति चेत् ? न, वेदस्यापि परमेश्वरनिर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात्। शरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावाद् अपौरुषेयत्वमिति चेत् ? न, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ० सं० १०।९०।१) इत्यादि श्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरित्वात्।

के मतानुसार लक्षण और प्रमाण के द्वारा ही वस्तु की सिद्धि होती है--'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः'।

यदि वेद का यह लक्षण कहा जाय कि 'वेद' प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन प्रमाणविशेषों में अन्तिम अर्थात् आगम प्रमाण है, तब मनु द्वारा प्रणीत स्मृतियों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि स्मृतियाँ भी आगम प्रमाण हैं जैसा कि आगम का लक्षण है--'समयबलेन सम्यक् परोक्षानुभवसाधनम्' अर्थात् संकेत के सहारे जो यथार्थ परोक्ष वस्तु के अनुभव (ज्ञान) का साधन हो उसे आगम या शब्द प्रमाण कहते हैं। आगम प्रमाण का यह लक्षण उन स्मृतियों में भी पाया जाता है।

यदि उपर्युक्त लक्षण में अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिये यह कहा जाय कि पौरुषेय न होकर जो अन्तिम प्रमाण है वह वेद है, तब भी परमेश्वर द्वारा वेद के निर्मित होने के कारण वेद भी पौरुषेय होता है अर्थात् वेद के लक्षण में अपौरुषेय यह विशेषण देने से पूर्वोक्त दोष नहीं हट सकता। यदि यह कहा जाय कि यहाँ अपौरुषेयत्व से शरीरधारी जीवनिर्मितत्वाभावरूप अर्थ विवक्षित है, अर्थात् वेद का निर्माता परमेश्वर कोई शरीरधारी जीव नहीं है, अतः उसके द्वारा निर्मित होने पर भी वेद की अपौरुषेयता सुरक्षित रहती है यह तो युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परमेश्वर को भी शरीरी कहा है, अतः शरीरधारी पुरुष परमेश्वर के द्वारा वेद के निर्मित होने के कारण उसकी अपौरुषेयता सिद्ध नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि कर्मफल के रूप में शरीर धारण करने वाले जीव द्वारा जो निर्मित न हो

कर्म्मफलरूपशरीरधारिजीवनिर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत् ? न, जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् । 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्' (ऐ० ब्रा० ५।३२) इति श्रुतेः । ईश्वरस्य अग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम् ।

मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेद इति चेत् ? न, ईदृशो मन्त्र ईदृशं ब्राह्मणमित्यनयोरप्द्यायनिर्णीतत्वात् । तस्मान्नास्ति किञ्चिद् वेदस्य लक्षणम् ।

नापि तत्सद्भावे प्रमाणं पश्यामः । 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (छां० उ० ७।१।२) इत्यादिवाक्यं प्रमाण-

---

वह यहाँ अपौरुषेयत्व से विवक्षित है, तो भी ठीक नहीं है क्योंकि जीवविशेष अग्नि, वायु, आदित्य के द्वारा वेदों की उत्पत्ति कही गई है । अतः उपर्युक्त निवेश भी समीचीन नहीं है । जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है—ऋग्वेद अग्नि से, यजुर्वेद वायु से और सामवेद आदित्य से उत्पन्न हुआ ('ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्') इस श्रुति के अनुसार ईश्वर अग्नि आदि का प्रेरक है, अत. वह वेदों का निर्माता सिद्ध होता है । अर्थात् वेद की उत्पत्ति अग्नि, वायु और आदित्य इन जीवविशेषों के द्वारा हुई अतः वेद को किसी भी प्रकार अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता है ।

यदि वेद का दूसरा लक्षण 'मन्त्र ब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः' अर्थात मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दराशि को वेद कहते हैं, ऐसा किया जाय तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मन्त्र होता है; ऐसा ब्राह्मण होता है इस विषय के अनिर्णीत होने से, अर्थात् मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार का होता है और ब्राह्मण का स्वरूप इस प्रकार का होता है इसका निर्णय अभी तक नहीं हो सका है । अतः ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि वेद का कोई लक्षण नहीं है ।

वेद के अस्तित्व में भी कोई प्रमाण नहीं है । यदि वेद के प्रमाण को सिद्ध करने के किये छान्दोग्योपनिषद् के 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' इस वाक्य को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत करते हैं तो यह भी ठीक

मिति चेत् ? न, तस्यापि वाक्यस्य वेदान्तःपातित्वेन आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । न खलु निपुणोऽपि स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति ।

'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः' (या० स्मृ० १।४०)

इत्यादि स्मृतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत् ? न, तस्यापि उक्तश्रुतिमूलत्वेन निराकृतत्वात् ।

प्रत्यक्षादिकं तु शङ्कितुमपि अयोग्यम् । वेदविषया तु लोकप्रसिद्धिः सार्व्वजनीनापि 'नीलं नभः' इत्यादिवद् भ्रान्ता । तस्मात् लक्षणप्रमाणरहितस्य वेदस्य सद्भावो नाङ्गीकर्त्तुं शक्यते इति पूर्व्वः पक्षः ।

नहीं है । क्योंकि यह वाक्य वेद के अन्तर्गत आता है । अतः वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये वेद-वाक्य को ही कैसे उद्धृत किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता है । यदि ऐसा करते हैं तो आत्माश्रय दोष लगता है । अतः वेद के सद्भाव को प्रमाणित करने के लिये वेद की पंक्ति को हम उसी प्रकार उद्धृत नहीं कर सकते है जिस प्रकार हजार प्रयत्न करने के बाद भी कोई कुशल व्यक्ति अपने कंधे पर आरूढ़ नहीं हो सकता । यदि याज्ञवल्क्य स्मृति के वाक्य 'वेद ही द्विजातियों के लिए निःश्रेयस का सर्वश्रेष्ठ साधन है' (वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः), को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्मृतियों का मूल तो वेद ही है । और जब वेद का ही प्रामाण्य नहीं है तो वेदाश्रित स्मृति वाक्यों का प्रामाण्य कैसे होगा अर्थात् स्मृतियों काप्रमाण्य नहीं होगा ।

यदि यह कहें कि वेद का सद्भाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है तो ऐसी शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि वेद के विषय में लोकप्रसिद्धि सर्वमान्य होने पर भी उसी प्रकार भ्रान्त है जिस प्रकार 'आकाश नीला है' यह लोकप्रसिद्धि भ्रान्त है । अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी वेद का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है । तात्पर्य यह है कि लक्षण और प्रमाण से रहित वेद का सद्भाव अस्वीकार्य है । फलतः लोकप्रसिद्धि के आधार पर वेद का लक्षण सिद्ध नहीं किया जा सकता है । यह वेद के अस्तित्व को न मानने वाले पूर्व पक्षियों का कहना है ।

उत्तरपक्षत्वेन वेदसद्भावे लक्षणप्रमाणादिनिर्णयः ।

अत्रोच्यते—मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम् । अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषामेवमाह—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० १।३३) इति । तयोस्तु स्वरूपमुपरिष्टात् निर्णेष्यते । अपौरुषेयवाक्यत्वमितीदमपि यादृशमस्माभिर्विवक्षितं तादृशमुत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति । प्रमाणान्यपि यथोक्तश्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धिरूपाणि वेदसद्भावे द्रष्टव्यानि । यथा घटपटादिद्रव्याणां स्वप्रकाशत्वाभावेऽपि सूर्य्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशकत्वमविरुद्धम्, तथा मनुष्यादीनां स्वस्कन्धारोहासंभवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तुप्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वमप्यस्तु । अत एव सम्प्रदायविदोऽकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति— 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोति अवगमयितुम्' (शा० भा० १।१।२) इति । तथा

इस विषय में सिद्धान्ती का कहना है कि मन्त्रब्राह्मणात्मकशब्दराशि वेद का लक्षण किया गया है यह सर्वथा दोषरहित है । आपस्तम्ब ने यज्ञ की परिभाषा में कहा है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों का नाम वेद है । इन दोनों का स्वरूप निर्णय आगे किया जायेगा । वेद को जैसा कि अपौरुषेय वाक्य कहा जाता है वह जैसा हमें विवक्षित है वैसा आगे स्पष्ट हो जायेगा । वेद के अस्तित्व में श्रुतियों, स्मृतियों और लोकप्रसिद्धियों को प्रमाण के रूप में मानना चाहिये । जिस प्रकार घट-पट आदि द्रव्य स्वयं अपने प्रकाशक नहीं होते किन्तु सूर्य और चन्द्र आदि का स्वयं प्रकाशक होना निर्विवाद है, उसी तरह मनुष्य का अपने कन्धे पर स्वयं चढ़ना असम्भव होने पर भी वेद, जिसकी शक्ति सर्वथा अकुण्ठित है, जो अन्य सभी वस्तुओं का प्रतिपादक है, इसी प्रकार स्वयं वह अपना भी प्रतिपादक हो सकता है । इसीलिये वैदिक सम्प्रदाय के लोग वेद की अकुण्ठित शक्ति प्रदर्शित करते हैं— "चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्" (शा० भा० १।१।२) अर्थात् वेद वाक्य के द्वारा भूत, वर्तमान, भविष्य, सूक्ष्म, छिपी हुई एवं दूर की वस्तु का ज्ञान हो सकता है ।

सति वेदमूलायाः स्मृतेस्तदुभयमूलाया लोकप्रसिद्धेश्च प्राणाण्यं दुर्वारम्। तस्मात् लक्षणप्रमाणसिद्धो वेदो न केनापि चार्वाकादिना अपोढुं शक्यते इति स्थितम् ।

ननु अस्तु नाम वेदाख्यः कश्चित् पदार्थः, तथापि नासौ व्याख्यानमर्हति, अप्रमाणत्वेन अनुपयुक्तत्वात् । न हि वेदः प्रमाणम्, तल्लक्षणस्य तत्र दुःसम्पादत्वात् । तथा हि—'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' इति केचित् लक्षणमाहुः । अपरं तु 'अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम्' इत्याचक्षते ।

ऐसी स्थिति में वेद मूलक स्मृतियाँ और वेद एवं स्मृतियों के मूल पर अवस्थित लोकप्रसिद्धि का प्रामाण्य भी हटाया नही जा सकता। इस तरह यह स्थिर है कि लक्षण एवं प्रमाणों द्वारा सिद्ध वेद के निराकरण का विरोध चार्वाक आदि कोई भी नहीं कर सकता है।

पूर्वपक्षी का कहना है कि यदि हम यह भी मान लें कि वेद नाम का कोई पदार्थ है तो यह स्वीकार नहीं कर सकते कि वेद व्याख्यान योग्य भी है। वेद के अप्रामाणिक होने के कारण उसके व्याख्यान की कोई उपयोगिता नहीं है। वेद इसलिये प्रमाण नहीं है कि प्रमाण का जो लक्षण आचार्यों ने स्थिर किया हैं वह वेद में संगत नहीं होता। प्रमाण का लक्षण आचार्यों ने दो प्रकार से स्थिर किया है। कुछ आचार्यों ने 'सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्' यह प्रमाण का लक्षण किया है, अर्थात् जो सम्यक अनुभव का साधन हो वह प्रमाण होता है अर्थात् जिसके द्वारा सम्यक् अनुभव प्राप्त किया जाय वह प्रमाण है। कुछ आचार्य—'अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम्' ऐसा प्रमाण का लक्षण करते हैं अर्थात् जो अनधिगत, अज्ञातपूर्व अर्थ का बोध कराता है—वह प्रमाण है। ये दोनों प्रकार के प्रमाण-लक्षण वेद में संगत नहीं होते हैं। जैसा कि वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक है; अब पूर्वपक्षी उपर्युक्त प्रमाण लक्षणों की मन्त्र और ब्राह्मण में असङ्गति दिखाता है, क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण के अतिरिक्त वेद कुछ भी नहीं है। अतः यदि मन्त्र भाग में भी इन दोनों लक्षणों की संगति न हो सकी तो वेद का प्रमाण होना प्रसिद्ध नहीं होगा। कुछ मन्त्र ऐसे मिलते हैं जिनसे अर्थ का बोध नहीं होता है। जैसे—

न चैतदुभयं वेदे सम्भवति। मन्त्रब्राह्मणात्मको हि वेदः। तत्र मन्त्राः केचिदबोधकाः।

'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० सं० १।१६९।३) इत्येको मन्त्रः।
'यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (ऋ० सं० ५।१४।८) इत्यन्यः॥
'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू' (ऋ० १०।१०६।६) इत्यपरः।

'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० १।१६९।३)
'यादृस्मिन् धायि तमपस्यया विदत्' (ऋ० ५।४४।८)
'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू' (ऋ० १०।१०६।६)
'आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्म्मा' (ऋ० १०।८९।५)

इन मन्त्रों का कोई भी अर्थ प्रतीत नहीं होता। इस स्थिति में जब इन मन्त्रों से कोई अनुभव अर्थात् ज्ञान ही नहीं होता है तब इनका सम्यगनुभव साधन होना दूर की बात है।

दूसरे 'अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्' (१०।१२९।५) यह मन्त्र 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि वचन विषय के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न कर देते हैं। अतः ऐसे वाक्य का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। इसी तरह 'ओषधे त्रायस्व' (तै० सं० १।२।१।१) यह मन्त्र दर्भविषयक है, 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (तै० सं० १।२।१।१) यह मन्त्र क्षुर-विषयक है 'शृणोत ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१३।५) यह मन्त्र पाषाण-विषयक है। इन मन्त्रों में चेतनारहित पदार्थ दर्भ, क्षुर और पाषाण को चेतन की भाँति सम्बोधित किया गया है। अतः इन मन्त्रों का अप्रामाण्य 'दो चन्द्रमा हैं' इस वाक्य की भाँति विपरीत अर्थ के बोध होने से सिद्ध होता है। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (तै० सं० १।८।६।१) रुद्र एक है, दूसरा नहीं। फिर 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११।५), अर्थात् इस पृथिवी पर जो हजारों हजार रुद्र हैं। ये दोनों मंत्र व्याघात बोधक होने के कारण 'मैं जीवन भर मौन हूं' इस वाक्य की भाँति अप्रमाण हैं। अर्थात् मुझे जिह्वा नहीं है इस वाक्य की भाँति इनका अप्रामाण्य है।

दूसरा प्रमाण-लक्षण 'अनधिगतार्थगन्तृ' है। वह भी मन्त्र भाग में घटित नहीं होता है। जैसे कि 'आप उन्दंतु' (तै० सं० १।२।१।१) यह मन्त्र क्षौर-

एवम् 'अपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्म्मा' (ऋ० सं० १०।८९।४) इत्यादय उदाहार्य्याः। न हि एतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽवबुध्यते। एतेषु अनुभव एव यदा नास्ति तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधकत्वं च दूरापेतम्।

'अधस्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इति मन्त्रस्य बोधकत्वेऽपि स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यादिवाक्यवत् सन्दिग्धार्थ-बोधकत्वात् नास्ति प्रामाण्यम्।

काल में यजमान के सिर को जल से भिगोने के लिये प्रयुक्त होता है। दूसरा मन्त्र 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम (आप० मं० पा० २।८।९) अर्थात् हे फूल की माला! मेरे मुख को शोभित करती हुई तू मेरे सिर पर चढ़ो। इस मन्त्र से विवाह में शुभिका (फूल की माला) को वर कन्या के सिर पर रखते हैं। ये दोनों मन्त्र लोक प्रसिद्ध बात को ही दुहराते हैं। अतः इन मन्त्रों में अनधिगतार्थगन्तृत्व अर्थात् उस अर्थ का बोधक होना जो किसी अन्य प्रमाण के द्वारा अधिगत न हो, यह प्रमाण का लक्षण संगत नहीं होता है। इस प्रकार द्विविध प्रमाण-लक्षणों के मन्त्रभाग में संगत न होने के कारण मन्त्र भाग का प्रमाण होना सिद्ध नहीं हो सकता। अतः वेद का सद्भाव मानकर भी हम मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं।

आशय यह है कि यथार्थ अनुभव को प्रमा कहा जाता है। अविपरीत अनुभव ही यथार्थ अनुभव है। यथार्थानुभवत्व अथवा सम्यगनुभवत्व अथवा अविपरीतानुभवत्व ही प्रमाण है। इस प्रकार यथार्थानुभव-करणत्व प्रमाण है। प्रमेय तत्त्व के निर्णय के लिये ही शास्त्रों की प्रवृत्ति है। प्रमेयतत्त्व का अवधारण प्रमाणतत्त्व के अवधारण के अधीन है। इस दृष्टि से प्रमेयतत्त्वावधारण ही प्रमा है और प्रमा का करण प्रमाण। फलतः यथार्थानुभव जनकत्व ही प्रमाणत्व हुआ। प्रमाणत्व-रूप से अनवधारित प्रमाण से प्रमेय रूप का अवधारण नहीं हो सकता है। वेदरूप प्रमेय के अवधारण करने के लिये उसमें प्रमाण का लक्षण घटित होना आवश्यक है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि प्रमेयतत्त्व के अवधारण की इच्छा रखने वाले पुरुष के लिये प्रमाणतत्त्व का अवधारण

'ओषधे त्रायस्वैनम्' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो दर्भविषय: (आश्व० गृ० १।१।७।८)। 'स्वधिते मैनं हिंसी:' (तै० सं० १।२।१।१) इति क्षुरविषय: (आश्व० गृ० १।१७।९)। 'शृणोत ग्रावाण:' (तै० सं० १।३।१३।१) इति पाषाणविषय:। एतेषु अचेतनानां दर्भक्षुरपाषाणानां चेतनवत् सम्बोधनं श्रूयते। ततो 'द्वौ चन्द्रमसौ' इति वाक्यवद् विपरीतार्थबोधकत्वादप्रामाण्यम्। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयावतस्थे' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम्' (तै० सं० ४।५।११।१) इत्यनयोस्तु मन्त्रयो: 'यावज्जीवमहं, मौनी' इति वाक्यवद् व्याघातबोधकत्वादप्रामाण्यम्।

अत्यन्त अपेक्षित है, जो व्यक्ति प्रमाणतत्त्व से उदासीन होकर प्रमेयतत्त्व के अवधारण की अभिलाषा रखते हैं, वह अभिलाषा प्रलाप मात्र ही है। यह सत्य है कि प्रमेय-तत्त्वावधारण के विना किसी तरह यथार्थ व्यवहार नहीं हो सकता। सम्यगनुभव साधनत्व यह न्याय सम्मत लक्षण है।

भाट्ट-मीमांसकों ने प्रमाण का लक्षण अनधिगतार्थगन्तृ लिखा है। भाट्ट मीमांसकों का कहना है प्रमाणान्तर के द्वारा अधिगत अर्थ में प्रमाणान्तर का का कोई भी उपयोग नहीं होता है क्योंकि अन्य प्रमाण से अधिगत अर्थ में प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति होने पर भी कोई फल नहीं है। अर्थ की अवगति ही प्रमाण का फल है यह तो पूर्व में ही सिद्ध हो जाता है। मीमांसकों के इस लक्षण के निर्वचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञात अर्थ का पुन: ज्ञान अत्यन्त निष्फल है, क्योंकि प्रथम ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से अधिगत अर्थ की स्मरण परम्परा चलती रहती है और स्मरण से ही व्यवहार भी उत्पन्न हो जाता है। अत: ज्ञात अर्थ की स्मृति और ज्ञात अर्थ की अन्य प्रमाण से अवगति होनेमे स्मृति और अधिगति में कोई विलक्षणता नहीं प्रतीत होती। दोनों ही अधिगत अर्थ-विषयक हैं इसलिये, ज्ञात अर्थ-विषयक ज्ञान का करण प्रमाण नहीं हो सकता है। इसी दृष्टि से आचार्य सायण ने न्यायमत के अनुसार 'सम्यगनुभव-साधनम्' अथवा 'यथार्थानुभवसाधनम्' इस प्रमाण लक्षण का वेद में समन्वय नहीं हो सकता है यह सूचित किया है। अनन्तर भट्ट मीमांसकों द्वारा स्वीकृत

'आप उन्दन्तु' (तै० सं० १।२।१।१) इति मन्त्रो यजमानस्य क्षौरकाले जलेन शिरसः क्लेदनं ब्रूते। 'शुभिके शिर आरोह शोभयन्ती मुखं मम' (आप० मं० पा० २।८।९) इति मन्त्रो विवाहकाले मंगलाचरणार्थं पुष्पनिर्मितायाः शुभिकायाः वरवध्वोः शिरसि अवस्थानं ब्रूते। तयोश्च मन्त्रयोर्लोकप्रसिद्धार्थानुवादित्वाद् अनधिगतार्थगन्तृत्वं नास्ति। तस्मान् मन्त्रभागो न प्रमाणम्। अत्रोच्यते—

अम्यगादिमन्त्राणामर्थो यास्केन निरुक्तग्रन्थेऽवबोधितः। तत्परिचयरहितानामनवबोधो न मन्त्राणां दोषमावहति। अत एव अत्र लौकिकं न्यायमुदाहरन्ति—'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति; पुरुषापराधः स भवति' (नि० १।१६) इति।

'अनधिगतार्थगन्तृ' इस लक्षण की वेद में उपपत्ति नहीं हो सकती है इसकी सूचना दी है।

प्रभाकर ने अनुभव मात्र को प्रमा माना है। अतः स्मृति भिन्न ज्ञान अनुभवात्मक ज्ञान हुआ और अनुभव का करण प्रमाण हुआ। प्रभाकर के मत में अयथार्थ ज्ञान की स्वीकृति नहीं है। अतः अनुभव में यथार्थ विशेषण देने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। अन्य दार्शनिकों ने प्रमाण का लक्षण भिन्न-भिन्न दृष्टि से लिखा है। प्रकृत में आचार्य सायण ने भट्ट मीमांसक और नैयायिक के प्रमाण लक्षण का ही विश्लेषणकर उसकी वेद में अनुपपत्ति प्रदर्शित की है। वेद एक प्रमेय तत्त्व है। प्रमेय तत्त्व की सिद्धि प्रमाण के अधीन मानी गई है अर्थात् 'मानाधीना मेयसिद्धिः' यह दार्शनिक मात्र की उद्घोषणा है। अतः प्रकृत में प्रमाण लक्षण का वेद में समन्वय नहीं हो सकता है। अतः 'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इस सिद्धान्त की दृष्टि से वेद रूप वस्तु की सिद्धि नहीं की जा सकती है।

'अम्यक् सा०' इत्यादि उपयुक्त चार दुरूह मन्त्रों का अर्थ यास्क ने अपने निरुक्त में स्पष्ट किया है। अतः 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवतीति' अर्थात् ठूँठ पेड़ का कोई भी अपराध नहीं है, जो उसे अंधा आदमी नहीं देखता है, वह तो उस अंधे का अपराध है।

'अधः स्विदासीत्' इति मन्त्रश्च न सन्देहप्रबोधनाय प्रवृत्तः। किं तर्हि ? जगत्कारणस्य परवस्तुनोऽतिगम्भीरत्वं निश्चेतुमेव प्रवृत्तः। तदर्थमेव हि गुरुशास्त्रसम्प्रदायरहितैर्दुर्बोधत्वम् 'अधः स्वित्' इत्यनया वचोभङ्ग्या उपन्यस्यति। स एवाभिप्राय उपरितनेषु 'को अद्धा वेद' (ऋ० सं० १०।१२९।६)इत्यादिमन्त्रेषु स्पष्टीकृतः।

ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवतास्तेन तेन नाम्ना सम्बोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (ब्र० सू० २।१।५) इति सूत्रे सूत्रिताः।

'अधः स्विदासीद्०' यह मन्त्र संदेह के बोधन के लिये प्रवृत्त नहीं है, बल्कि जगत् का कारण जो कोई परम वस्तु है उसकी अतिगम्भीरता का निश्चय कराने के लिए प्रवृत्त है। ऊपर और नीचे दोनों स्थानों में रहने वाली चीज निश्चय ही अत्यन्त गम्भीर होगी। जो लोग गुरु, शास्त्र एवं सम्प्रदाय की परम्परा से रहित होते हैं उन्हें वह जगत्कारण स्वरूप परमवस्तु कठिनाई से समझ में आती है। इसी बात को 'अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्' मन्त्र से बताया है।

'ओषधि०' इत्यादि मन्त्रों से जड़ पदार्थों में रहने वाली अभिमानी चेतन देवताओं को सम्बोधित किया है। बादरायण ने 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (ब्र० सू० २।१।५) इस में उन देवताओं को सूचित किया है। श्रुतियों में 'मृदब्रवीत्' में 'मृत्' शब्द से मृद्गत अभिमानिनी देवता की सूचना दी गई है, क्योंकि चेतन ही वाग्व्यवहार करता है न कि जड़ अर्थात् मृत्तिका। इसी प्रकार जिन मंत्रों में 'ओषधि, पाषाण आदि' सम्बोधित किये गये हैं वहाँ भी अभिमानिव्यपदेश ही समझना चाहिये। इसलिए अनधिगत अर्थ का अधिगन्तृत्व प्रमाण है—इस प्रमाण लक्षण में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।

ऊपर जिस मन्त्र में एक ही रुद्र की चर्चा है, उसके विपरीत दूसरे मन्त्र में हजारों रुद्रों की चर्चा है वहाँ परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि एक ही रुद्र अपनी महिमा के कारण हजारों मूर्तियों में प्रकट हो सकता है।

(तै

एकस्यापि रुद्रस्य स्वमहिम्ना सहस्रमूर्त्तिस्वीकारान् नास्ति परस्परव्याघातः।

जलादिद्रव्येण शिरःक्लेदनादेर्लोकप्रसिद्धत्वेऽपि तदभिमानिदेवतानुग्रहस्य अप्रसिद्धत्वात् तद्विषयत्वेन अज्ञातार्थज्ञापकत्वम्।

ततो लक्षणसद्भावादस्ति मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्। एतदेवाभिप्रेत्य भगवान् जैमिनिर्मन्त्राधिकरणे मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वमसूत्रयत (जै० सू० १।२।३१–४५)। तानि च सूत्राणि क्रमेण उदाहृत्य व्याख्यास्यामः। तत्र पूर्व्वपक्षं सूत्रयति—

'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) इति।

यस्यार्थस्य अभिधाने समर्थो मन्त्रः, स एव अभिधेयो यस्य

जल से सिर भिगोने और शुभिका (पुष्पमाला) को सिर पर चढ़ाने के जो मन्त्र ऊपर दिये हैं वे लोकव्यवहृत होने से प्रसिद्ध हो सकते हैं, तथापि इन कर्मों से उन-उन अभिमानिनी देवताओं का अनुग्रह तो लोक में सदैव अप्रसिद्ध होने के कारण अनधिगत है इसी प्रकार प्रमाण का लक्षण भी उन मन्त्रों में संगत हो जाता है। इस प्रकार मन्त्रों के अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होना सिद्ध होता है।

इस प्रकार प्रमाण-लक्षणों के संगत हो जाने से मन्त्र-भाग का प्रामाण्य सिद्ध हुआ। इसलिए अनधिगत अर्थ का अधिगन्तृत्व प्रमाण है—इस प्रमाण लक्षण में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।

इसी अभिप्राय से जैमिनि ने मन्त्राधिकरण में मन्त्रों के विवक्षितार्थत्व को सूचित किया है। इस प्रसंग में हम उन सूत्रों को क्रम से उद्घृत करके व्याख्यान करते हैं। सर्वप्रथम पूर्वपक्ष (अर्थात् मन्त्रों के अर्थ विवक्षित नहीं होते) के सूत्र निम्न क्रम से है—

शंकापक्ष—वैदिक मन्त्रों में अर्थ की विवक्षा नहीं है।

अर्थ तदर्थशास्त्रात् (जै० १।२।३१)—जिस अर्थ के प्रतिपादन में मन्त्र समर्थ रहता है वही प्रतिपाद्य अर्थ जिस ब्राह्मण अर्थात् शास्त्र का रहता है उस ब्राह्मण वाक्य को उस अर्थ को कहने वाला शास्त्र अर्थात् तदर्थशास्त्र कहा जाता है। उस शास्त्र अर्थात् ब्राह्मण वाक्य से यह प्रतीत होता है कि मन्त्र के

शास्त्रस्य ब्राह्मण--वाक्यस्य, तदिदं वाक्यं तदर्थशास्त्रम्। तस्मात् शास्त्राद् अविवक्षितार्थो मन्त्र इत्यवगम्यते। तथा हि–'उरु प्रथस्व'

अर्थ की विवक्षा नहीं है यथा 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र के द्वारा पुरोडाश के प्रथन अर्थात् विस्तार करने का अभिधान किया गया है और 'पुरोडाशं प्रथयति' इस ब्राह्मण वाक्य में भी पुरोडाश के प्रथन का ही अभिधान है। इस स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि पुरोडाश का प्रथन वेद के मन्त्र से ही प्रतीत हो जाता है, इसलिये पुरोडाश प्रथन रूप अर्थ को कहने के लिये ब्राह्मण वाक्य समर्थक होगा। यदि यह स्वीकार किया जाय कि मन्त्र में अर्थ की विवक्षा नहीं होती है तो इस मन्त्र का विनियोग बताने में ब्राह्मण वाक्य का उपयोग सिद्ध होता है; इसलिये यह मानना उचित है कि मन्त्र उच्चारण मात्र से ही अनुष्ठान का उपकार करते हैं, इनका कोई अर्थ विवक्षित नहीं है।

शारदी---'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) मंत्र का जो अर्थ या प्रयोजन रहता है, उस अर्थ को विषयस्वरूप में मानने वाला वेदवाक्य है। मन्त्र के द्वारा जिस अनुष्ठेय विषयक अर्थ की स्मारकता रूप प्रयोजन सिद्ध किया जायगा, उस विषय को कहने वाला वेदवाक्य सिद्ध है, अतः मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं है।

अर्थवाद अधिकरण में विधि को छोड़कर अन्य वेदभागों का प्रामाण्य भी साधारण रूप में प्रतिपादित किया गया है। ऐसी स्थिति में अर्थवाद का क्या प्रयोजन है, इसी की विशेष आलोचना की गई है। मन्त्र भाग का क्या प्रयोजन है, यही प्रकृत में विचारणीय है। "तदर्थशास्त्रात्" से आरम्भ कर "अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्" यहाँ तक के सभी वाक्य एक ही सूत्र के अंश है। प्रत्येक अंश "मन्त्रानर्थक्यम्" इस पद के साथ सम्बद्ध है। सूत्र अधिक विस्तृत हो जाता, अतः व्याख्या की सुविधा के लिये भगवान् शबरस्वामी ने एक-एक अंश को लेकर व्याख्या की है।

"तदर्थशास्त्रात्" सम्पूर्ण सूत्र के इस अंश का "मन्त्रानर्थक्यम्" इस अंश के साथ ही अन्वय है। इसमें "मन्त्र की निष्प्रयोजनता" यह अंश साध्य है। "तदर्थशास्त्रात्" इत्यादि पञ्चम्यन्तपद हेतु है।

(तै० सं० १।१।८ वा० सं० १।२२) इति मन्त्रेण पुरोडाशप्रथनमभिधीयते 'पुरोडाशं प्रथयति' (तै० ब्रा० ३।२।८।४, श० ब्रा० १।२।२।८) इति ब्राह्मणेनापि तदेवाभिधीयते । तथा सति मन्त्रेणैव प्रतीतत्वात् तदर्थबो-

---

शंकापक्षियों का कथन है कि मन्त्र के उच्चारण से अदृष्ट होता है। अर्थात् कर्मविशेष में यथाकथित रूप में मन्त्र का उच्चारण करने पर अदृष्ट या अपूर्व का उत्पादन होता है। इसी से कर्म में फल की प्राप्ति होती है। मन्त्र के पदों का अर्थ यज्ञ आदि कर्मों के किसी प्रयोजन का निर्वाह नहीं करता है। कारण, मन्त्र का अर्थ ब्राह्मणवाक्य से ही विज्ञापित हो जाता है और जिसका अर्थ किसी अन्य प्रकार से विज्ञापित हो जाता है, वह अर्थ किसी अन्य प्रयोजन का साधक नहीं होता है, अर्थात् उससे किसी अन्य प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं है। मन्त्र के अर्थ का कोई प्रयोजन नहीं है, वरन्, मन्त्र का उच्चारण अदृष्ट का जनक है।

जैसे अभ्रि अर्थात् काठ के कुदाल के ग्रहण के समय "गायत्रेण त्वाच्छन्दसाददे त्रैष्टुभेन त्वाच्छन्दसाददे जागतेन त्वाच्छन्दसाददे पांक्तेन त्वाच्छन्दसाददे" इस मन्त्र का पाठ किया जाता है। इसके अर्थ के द्वारा वस्तु-विशेष का आदान अर्थात् ग्रहण अवगत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है "तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते" (तै० सं० ५।१।१) चार मन्त्रों से इस अभ्रि का ग्रहण करें। इसी प्रकार "इमामगृभ्णन् रसनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्ते" (वा सं० २२।१) इस स्थल में "इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य" यह अंश मंत्र है एवम् "इत्यश्वाभिधानीमादत्ते" यह अवशिष्ट अंश ब्राह्मण या विधायक है। यहाँ भी पूर्व के समान ब्राह्मणवाक्य के द्वारा ही मन्त्र से कथित रशना का ग्रहण कथित हो गया तो मन्त्र के द्वारा किसी अधिक अर्थ का बोध नहीं हो रहा है। इसी प्रकार "उरु प्रथस्व" (वा० सं० १।१२) यह एक मन्त्र है। हे पुरोडाश ! जिससे तुम विपुल रूप में हो सकते हो उसी रूप में अपना प्रसार करो। पुनः ब्राह्मणग्रन्थ में कहा गया है "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" (तै० ब्रा० ३।२।८।४) उरु प्रथस्व यह कह कर पुरोडाश को फैलाये। इन स्थलों में मन्त्र के अर्थ को ब्राह्मण वाक्य ही कह रहा है; अतः, मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं हो सकता है।

धनाय प्रवृत्तं ब्राह्मणमनर्थकं स्यात्। मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु विनियोगबोधनाय ब्राह्मणमुपयुक्तम्। तस्मान् मन्त्रा उच्चारणेनैव अनुष्ठाने उपकुर्वन्ति।

ननु उच्चारणार्थत्वे सति अदृष्टं प्रयोजनं परिकल्प्येत। अर्थाभिधायकत्वे तु दृष्टं लभ्यते। तस्माद् ब्राह्मणस्य अनुवादकत्वमभ्युपेत्यापि मन्त्रस्य अभिधानार्थत्वमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'वाक्यनियमात्' (जै० १।२।३२) इति।

मन्त्र के अर्थ की विवक्षा मानकर ब्राह्मणवाक्य का अन्यथा व्याख्यान किया जा सकता है, किन्तु, यह भी ठीक नहीं है, वेद मन्त्र एवं ब्राह्मणात्मक होने पर भी ब्राह्मण विधिप्रधान है। विधि ही साक्षात् रूप में धर्म में प्रमाण है। विधि का अपने अर्थ में प्रामाण्य पूर्वसूत्र में ही सिद्ध किया गया है। यदि विधिवाक्य का अज्ञात-ज्ञापकत्वरूप प्रयोजन नहीं माना जाय तभी ब्राह्मण का अप्रामाण्य होगा, फलस्वरूप सम्पूर्ण वेद का ही अप्रामाण्य मानना होगा। इसलिये मंत्र के अनुरोध से ब्राह्मण वाक्य का अर्थ अन्यथा नहीं हो सकता है। मन्त्र का अर्थ ब्राह्मण वाक्य में ही कथित होने से मन्त्र अर्थवाद के समान स्वार्थ में अप्रमाण है। मन्त्रों का केवल उच्चारण के द्वारा ही प्रयोजन सिद्ध होता है, अतः, मन्त्र अदृष्ट या अपूर्व का ही जनक है।

द्वितीय सूत्र की अवतारणा—मन्त्र को उच्चारणार्थक मानने पर अदृष्ट रूप प्रयोजन की कल्पना होगी और अर्थ की विवक्षा मानने पर दृष्ट प्रयोजन भी सिद्ध होगा, अतः, ब्राह्मण को अनुवादक मान कर भी मन्त्र अर्थ का अभिधायक होगा, अर्थात् मन्त्र का अर्थ विवक्षित रहेगा, इसलिए अन्य दोष के लिये द्वितीय सूत्र की अवतारणा की गई है।

वाक्यनियमात् (जै० १।२।३२) मन्त्र वाक्यों का पदविन्यास नियमबद्ध है, अतः मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं है। मन्त्र स्वार्थ का प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि मन्त्र वाक्य का पदविन्यास नियमबद्ध है।

अर्थ—'अग्निमूर्द्धा दिवः ककुत्' इस मन्त्र वाक्य को इसी रूप में पढ़ना होगा यह नियम उपलब्ध होता है। यदि अर्थ की प्रतीति कराना ही इस मन्त्र का

'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद्' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इत्येवमेव वाक्यं पठितव्यमिति मन्त्रे नियम उपलभ्यते। अर्थप्रत्यायनं तु मूर्द्धाग्निरित्येवं व्युत्क्रमपाठेऽपि भवत्येव। तस्मात् नियतपाठक्रमसाफल्यायोच्चारणमेव मन्त्रप्रयोजनम्।

ननु पाठक्रमनियममात्रस्य अदृष्टार्थत्वेऽपि मन्त्रपाठोऽर्थबोधाय एव इत्याशङ्क्य तत्र दोषान्तरं सूत्रयति—

'बुद्धशास्त्रात्' (जै० १।२।३३) इति।

अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इति प्रैषमन्त्रः

फल होता तो मूर्धाग्नि इस पाठ के परिवर्तन के द्वारा अर्थ की प्रतीति सम्भव होती। किन्तु न यहाँ अग्नि की जगह वह्नि का प्रयोग किया जा सकता है। और न अग्नि की जगह पाठ भेद ही किया जा सकता है। अतः नियत पाठक्रम की सफलता की सिद्धि के लिये उच्चारण ही मन्त्र का प्रयोजन है अर्थज्ञान नहीं।

शारदी—आशय यह है कि मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं है, इसमें दूसरा कारण यह भी है कि मन्त्र के पदों का जो क्रम है, उसका परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। जैसे "अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद्" इस मन्त्र के पदों का क्रम भङ्ग कर "अग्निर्दिवोमूर्धा" इस प्रकार पढ़ा जाय तो मन्त्र का पाठ विफल होगा; यह सभी को मानना पड़ेगा। अपने अर्थ का प्रकाश करना ही यदि मन्त्र का प्रयोजन होता तब यहाँ प्रयोग क्रम का बन्धन नहीं रहता, क्योंकि मन्त्र के पदों का क्रम भंग करने पर भी अर्थ की प्रतीति में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती।

पाठक्रम नियम को अदृष्ट रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये मानने पर भी मंत्रपाठ अर्थबोध के लिए ही है, इस आशंका से अर्थबोध की अवतारणा की गई है—बुद्धशास्त्रात् (१।२।३३) ज्ञात विषय का अनुशासन होने से मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं है। मन्त्र स्वार्थ में विवक्षाशून्य है।

अर्थ—'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२)।

यह प्रैष मन्त्र प्रयोग के समय पढ़ा जाता है। अग्नि को जलाने वाला

प्रयोगकाले पठ्यते। तच्च अग्निविहरणादिकं आग्नीध्रेण अध्ययनकाले एव स्वकर्त्तव्यत्वेन बुद्धम्। तस्य च बुद्धस्य अर्थस्य पुनर्मन्त्रोच्चारणेन शासनमनर्थकम्। न हि सोपानत्के पादे पुनरपि उपानहं प्रतिमुञ्चति।

ननु बुद्धस्य अपि अर्थस्य प्रामादिकविस्मरणपरिहाराय मन्त्रेण स्मारणमस्तु इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अविद्यमानवचनात्' (जै० १।२।३४) इति।

आग्नीध्र अग्नि विहरणादि अर्थात् अग्नि को ऐक मण्डप से दूसरे मण्डप में ले जाने के कर्म को अध्ययन काल में ही अपने कर्तव्य के रूप में समझ लेता है। उसी ज्ञात अर्थ (अग्नि विहरण) का पुनः मन्त्रोच्चारण के द्वारा शासन करना अनर्थक ही है। क्योंकि जिस पैर में उपानह (जूता) विद्यमान है उसमें पुनः कोई भी उपानह नहीं पहनता है।

शारदी—आशय यह है कि पैर में जूता पहनने के बाद जूता पहनता है—यह कथन जैसे निष्प्रयोजन है, वैसे ही जो विषय पूर्व से अवगत है; उसी का पुनः मन्त्र से कथन निष्प्रयोजन है। याज्ञिकों को मन्त्रपाठ के पूर्व से ही अपने-अपने कर्त्तव्य की जानकारी रहती है, कारण, जो व्यक्ति जिसका जानकार नहीं रहता है वह व्यक्ति उस कर्म को नहीं कर सकता है। "अग्नीदग्नीन् विहर" (तै० सं० ६।३।१।२) हे अग्नीध्र अर्थात् ऋत्विग्विशेष अग्नि लेकर विहरण करें इत्यादि मन्त्र याज्ञिकों के कर्त्तव्य के बोधक हैं, इनके द्वारा अपने अर्थ का प्रतिपादन जूता पहनने के बाद जूता पहनने के समान निष्प्रयोजन है। इसलिये, मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं है।

अवगत अर्थ का प्रमादवश विस्मरण के परिहार के लिये मन्त्र का अर्थ स्मारक हो सकता है; अतः अन्य दोष की अवतारणा से अन्य दोष की आशंका से अन्यसूत्र की अवतारणा की है—

अविद्यमानवचनात् (१।२।३४) जिसका अस्तित्व नहीं है, उन वस्तुओं के विषय में कहा गया है, अतः, मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं है।

अर्थ—ज्ञात अर्थ का भी प्रमादवश विस्मरण हो सकता है इसके लिये मन्त्र द्वारा ज्ञात अर्थ का भी स्मरण हो जाता है। अतः मन्त्र की सार्थकता है ऐसी

'चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा,
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य' (ऋ० सं० ४।५८।३)

इति मन्त्र आम्नायते। न खलु चतुःश्रृङ्गत्वाद्युपेतं किञ्चिद् यज्ञसाधनं विद्यते यन्मन्त्रपाठेन अनुस्मर्य्येत।

ननु ईदृशी काचिद् देवता स्यादित्याशङ्कय अन्यं दोषं सूत्रयति–

'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (जै० १।२।३५) इति।

'ओषधे त्रायस्वैनम्', 'श्रृणोत ग्रावाणः' इत्यादावचेतने द्रव्ये चेतनोचितरक्षणश्रवणाद्यर्थं बध्नाति। स चायुक्तः।

आशङ्का करके दूसरा दोष प्रस्तुत करते हैं—'अविद्यमान वस्तु का कथन होने से मन्त्रों का कुछ अर्थ नहीं है।' 'चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य' (ऋ० ४।५८।३) यह मन्त्र है। चतुः श्रृङ्गत्वादि से युक्त कोई यज्ञ-साधन है ही नहीं जिसका मन्त्र पाठ के द्वारा स्मरण कराया जाय।

हो सकता है इस प्रकार का कोई देवता हो जिसका स्मरण यह मन्त्र कराता हो ऐसी आशङ्का करके दूसरा दोष देते हैं—'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' अर्थात् अचेतन द्रव्यों के साथ चेतनोचित अर्थों का सम्बन्ध होने से भी यह ज्ञात होता है कि मन्त्रों में अर्थबोधकता नहीं है।

'ओषधे त्रायस्वैनम्' श्रृणोत ग्रावाणः' इत्यादि मन्त्रों में अचेतन द्रव्य में चेतनोचित रक्षण, श्रवण आदि अर्थ का सम्बन्ध स्थापित किया गया है जो युक्तियुक्त नहीं लगता।

'अभिमानिव्यपदेशः' इस वैयासिक शास्त्र में सूत्रित ओषध्यादि के अभिमानिनी चेतन देवताओं की ऐसे स्थलों पर विवक्षा होती है, अतः मन्त्र में अर्थ विवक्षित है। ऐसी आशङ्का होने पर दूसरा सूत्र आगे दिया गया है।

शारदी—आशय यह है कि मन्त्र का अर्थ विवक्षित होने पर यज्ञ के साधन या उपकरण का ही मन्त्र के द्वारा कहना उचित था। किन्तु, 'चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा। द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य (ऋ० ४।५।८।३) चार सींग, तीन पैर, दो मस्तक एवं हाथ इत्यादि मन्त्र का अर्थ असम्भव है। क्योंकि, इस तरह की यज्ञसाधन वस्तु नहीं है। इसलिये स्मरण होने से इसके यज्ञ में

ननु अभिमानिव्यपदेश इति वैयासिकशास्त्रे सूत्रितत्वात् ओषध्याद्यभिमानिचेतनदेवता अत्र विवक्ष्यतामित्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति–

'अर्थविप्रतिषेधात्' (जै० १।२।३६) इति।

'अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८९।१०) इति मन्त्रः आम्नायते। यदेव द्यौस्तदेव अन्तरिक्षमित्ययमर्थो विप्रतिषिद्धः। एवम्

किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता है। अतः, मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं है। ये मन्त्र उच्चारण से ही क्रिया के सम्पादक हैं और इसी से अदृष्ट या अपूर्व होता है।

पूर्वोक्त मन्त्र के अनुरूप कोई देवता हो सकता है। इस आशङ्का से अन्य दोष की अवतारणा के लिये 'अचेतनेऽर्थबन्धनात्' (जै० १।२।३५) सूत्र दिया है।

अचेतनेऽर्थबन्धनात्=चेतनाहीन द्रव्य में सम्बोधन आदि रूप अर्थ का सम्बन्ध होने से मन्त्र का अर्थ अविवक्षित है। अर्थबन्धनात्=सम्बोधना आदि रूप अर्थ का बन्ध=सम्बन्ध रहने से। आशय यह है कि "ओषधे त्रायस्वैनं, स्वधिते मैनं हिंसीः" (तै० सं० १।२।११) "शृणोत ग्रावाणः" (तै० सं० १।३।१३) हे ओषधि ? तुम इसकी रक्षा करो, हे स्वधिते ? (कुठार या अस्त्रविशेष) तुम इसकी हिंसा मत करना। हे ग्रावाण ? अर्थात् प्रस्तरखण्ड ? तुम सुनो इत्यादि मन्त्रों का अर्थ बाधित है। कारण, इन स्थलों में चैतन्यशून्य ओषधि, कुठार, प्रस्तर आदि को सम्बोधन किया है। सम्बोधन का अर्थ अभिमुखीकरण-वक्ता के प्रति मनोयोगपूर्वक आकर्षण है। किन्तु चेतना-विहीन जडवस्तु का अभिमुखीकरण नहीं हो सकता है। इसलिए मन्त्रों का अर्थ अविवक्षित है।

जडवस्तु के अभिमानी देवता का व्यवहार व्याससूत्र में निर्दिष्ट किया गया है। अभिमानिव्यपदेशस्तु (वे० सू० २।१।५) अतः ओषधि आदि के अभिमानी चेतन देवता की विवक्षा की जा सकती है, इस आशङ्का से अन्य दोष के लिये सूत्र की अवतारणा कर रहे हैं—

अर्थविप्रतिषेधात् (१।२।३६) = मन्त्र के पदों के अर्थों का परस्पर विरोध होने से मन्त्रों का अर्थ निष्प्रयोजन है।

अर्थ—'अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षम' यह एक मन्त्र है। जो अदिति द्युलोक

'एक एव रुद्रः' (तै० सं० १।८।६।१), 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' (सं० तै० ४।५।११।१) इत्यादिकमपि उदाहर्त्तव्यम् ।

ननु 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादिवद् अन्तरिक्षादिरूपत्वेन अदितिः स्तूयते एवमेकस्यापि रुद्रस्य योगसामर्थ्याद् बहुमूर्तिस्वीकारोऽस्तु । ततो नार्थविप्रतिषेध इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'स्वाध्यायवदवचनात्' (जै० १।२।३७) इति ।

है वही अन्तरिक्ष हैं-यह अर्थ परस्पर विरुद्ध है । इसी प्रकार 'एक एव रुद्रः' 'सहस्राणि सहस्रो ये रुद्राः' इत्यादि मंत्र भी उदाहरण देने योग्य हैं।

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादि की तरह अंतरिक्ष आदि रूप से अदिति की स्तुति की गई है । इसी प्रकार एक ही रुद्र का योग के सामर्थ्य से बहुत रूपों का स्वीकार करना हो सकता है । इसलिए मन्त्रों में अर्थ-प्रतिषेध नहीं ।

शारदी—आशय यह है कि अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् (ऋ० १।८९।१०) अदिति ही द्यौ है अदिति ही अन्तरिक्ष है, इत्यादि मन्त्रों के पदों में परस्पर विरोध है । कारण एक बार अदिति को द्यौ कहा गया है और पुनः उसी अदिति को अन्तरिक्ष कहा गया है । इसी तरह एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे । असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् (वा० सं० १९।५४) रुद्र एक है, द्वितीय नहीं । जगत् में संख्याविहीन हजार-हजार रुद्र हैं, इत्यादि मंत्रों के अर्थ में विशेष रूप से विरोध लक्षित होता है, कारण, एक बार एक रुद्र कहा गया और पुनः हजार-हजार रुद्र कहे गये हैं । इस प्रकार मन्त्र के पदों के अर्थ में विरोध होने से मन्त्र के अर्थ में विरोध होने से मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादि के समान अन्तरिक्ष आदि रूप में अदिति की स्तुति की गई है । इसी प्रकार एक रुद्र की भी योगसामर्थ्य से अनेकरूपता हो सकती है, इसलिए अर्थ में विरोध नहीं है अतः अन्य दोष के लिए दूसरे सूत्र की अवतारणा की गई है ।

स्वाध्यायवदवचनात् (१।२।३७) = स्वाध्याय के समान । अवचनात्= वचन न होने से ।

पूर्णिका नाम काचिद् योषिदवघातं करोति। तत्समीपे माणवकः स्वाध्यायग्रहणार्थं कदाचिदवघातमन्त्रमधीते। न च तस्य अर्थप्रकाशनविवक्षा अस्ति। प्रतिमुसलप्रहारं तस्य मन्त्रस्य अपठ्यमानत्वात्। अक्षरग्रहणायैव तं मन्त्रमन्यांश्च मन्त्रान् अभ्यस्यति। तत्र स्वाध्यायकाले पठितोऽपि अवघातमन्त्रो यथा पूर्णिकां प्रति स्वार्थं न ब्रूते, तथा कर्म्मकालेऽपि स्वार्थं न वक्ष्यति।

ननु तत्र माणवकस्य अर्थे विवक्षा नास्ति। पूर्णिकापि अवबोद्धुमक्षमा। कर्म्मणि तु अध्वर्योरर्थविवक्षा विद्यते, बाधश्च सम्भवति इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति--

'अविज्ञेयात्' (जै० १।२।३८) इति।

केषाञ्चिन्मन्त्राणामर्थो विज्ञातुं न शक्यते। तद् यथा—'अम्यक् सा

अर्थ---'स्वाध्याय-काल की तरह यज्ञकाल में भी मन्त्रों की अर्थ बोधकता नहीं होती है।'

पूर्णिका नाम की कोई स्त्री अवघात कर रही है। उसके समीप में माणवक स्वाध्याय के ग्रहण के लिये किसी अवघात मन्त्र का अध्ययन करता है। उस मन्त्र की यहाँ अर्थविवक्षा नहीं है क्योंकि प्रत्येक मुसल के प्रहार के साथ वह मन्त्र नहीं पढ़ा जा रहा है। अक्षर ग्रहण के लिए ही उस मन्त्र तथा अन्य मन्त्र का अभ्यास कर रहा है। वहाँ स्वाध्यायकाल में पठित मन्त्र जिस प्रकार पूर्णिका के प्रति अपने अर्थ को नहीं बतलाता वैसे ही यज्ञ के समय पर भी वह अपने अर्थ को नहीं कहेगा।

यहाँ माणवक की अर्थ में विवक्षा नहीं है और पूर्णिका भी अर्थ को जानने में असमर्थ है। कर्म में अध्वर्यु को अर्थ विवक्षा रहती है और बोध भी हो सकता है--इस आशंका से अन्य सूत्र की अवतारणा की गई है--

अविज्ञेयात् (१।२।३८)—कतिपय ऐसे मन्त्र हैं जिनका अर्थ अविज्ञेय है, अतः, वे उच्चारणरूप प्रयोजन के लिये हैं, वैसे ही अन्य मन्त्र भी हैं। ऐसे मन्त्रों के अर्थज्ञान के लिए ही निगम, निरुक्त तथा व्याकरण प्रवृत्त हैं।

शारदी--आशय यह है कि मन्त्रों का अर्थ कर्म के अनुष्ठान में निष्प्रयोजन

त इन्द्र ऋष्टिरस्मे' इत्येको मन्त्रः। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू' इत्यपरो मन्त्रः।

ननु ईदृशमन्त्रार्थबोधाय एव निगमनिरुक्तव्याकरणानि प्रवृत्तानि इत्याशङ्क्य दोषान्तरं सूत्रयति—

'अनित्यसंयोगात् मन्त्रानर्थक्यम्' (जै० १।२।३९) इति।

'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु (ऋ० सं० ३।५३।१४) इति मन्त्रे कीकटो नाम जनपद आम्नातः। तथा 'नैचाशाखं नाम नगरं प्रमगन्दो नाम राजा' इत्येते अर्था अनित्या आम्नाताः। तथा च सति प्राक् प्रमगन्दात् नायं मन्त्रो भूतपूर्व इति गम्यते।

तदेवमेतैस्तदर्थशास्त्रादिभिर्हेतुभिर्मन्त्राणामर्थप्रत्यायनार्थत्वं नास्ति

है, क्योंकि, "अम्यक् सात इन्द्र ऋष्टिरस्मे, त्रीण्येव जर्भरी तुर्फरी तू", इत्यादि मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं होता है। मन्त्रों का अर्थ विवक्षित होने पर इन मन्त्रों का भी अर्थ होता, किन्तु, इनका कोई अर्थ नहीं है। अतः, उक्त मन्त्र केवल पाठ के द्वारा ही यज्ञ का उपकारक है, अन्य मन्त्रों की भी वैसी ही स्थिति है।

अविज्ञेयात् = कतिपय मन्त्रों का अर्थ अविज्ञेय है। अतः केवल उच्चारणार्थक होने से अन्य मन्त्र भी वैसे ही हैं।

यदि यह कहा जाय कि ऐसे मन्त्रों के अर्थ के ज्ञान के लिए ही निगम, निरुक्त, व्याकरण प्रवृत्त हुए हैं—इस आशङ्का से अन्य सूत्र की अवतारणा की गई है।

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् (१।२।३९) जननमरणशील अर्थ के वाचक शब्दों का प्रयोग होने से मन्त्र का अर्थ निष्प्रयोजन है।

अर्थ—'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु' इस मन्त्र में कीकट नाम के देश का उल्लेख हुआ है। इसी तरह नैचाशाख नामक नगर और प्रमगन्द नामक राजा इन अनित्य पदार्थों का उल्लेख हुआ है। ऐसी स्थिति आने पर यह ज्ञात होता है कि प्रमगन्द नामक राजा के पहले मन्त्र विद्यमान नहीं था।

इस प्रकार तदर्थशास्त्र आदि इन हेतुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रों

किन्तु उच्चारणादहृष्टार्था एव इति पूर्वपक्षः।

तत्र सिद्धान्तं सूत्रयति—

'अविशिष्टमस्तु वाक्यार्थः' (जै० १।२।४०) इति।

'तु' शब्देन मन्त्राणामदृष्टार्थमुच्चारणमात्रं वारयति। क्रियाकारकसम्बन्धेन प्रतीयमानो वाक्यार्थो लोकवेदयोरविशिष्टः। तथा सति यथा लोके अर्थप्रत्यायनायैव वाक्यमुच्चार्य्यते तथा वैदिके यागप्रयो-

---

की अर्थबोधकता नहीं है, किन्तु उनके उच्चारण से अदृष्ट प्रयोजन की प्राप्ति होती है। यह पूर्वपक्ष हुआ।

शारदी—आशय यह है कि "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः" (ऋ० ६। ५३।१४) इत्यादि मन्त्रों में कीकट नामक नगर, नैचाशाख नामक नगर एवं प्रमगन्द नामक राजा के विषय में उल्लेख है। यदि मन्त्र का अर्थ विवक्षित माना जाय तो इन पूर्वोक्त वस्तुओं की उत्पत्ति के बाद ही इन मन्त्रों की रचना माननी पड़ेगी। ऐसा मानने पर अनित्य वस्तुओं का प्रतिपादक होने से मन्त्र अनित्य हो जायेंगे और मन्त्र को भागविशेष में अनित्य मानने पर सम्पूर्ण वेद को ही अनित्य मानना पड़ेगा। इसलिये यह अवश्य ही मानना होगा कि कर्मानुष्ठानरूप अर्थ के प्रकाशन में मन्त्र की सार्थकता नहीं है, फलतः मन्त्र की अनर्थकता या प्रयोजन-शून्यता सिद्ध होती है। अदृष्ट या अपूर्व का उत्पादन करना ही मन्त्र का प्रयोजन है, अतः, मन्त्र का अर्थ विवक्षित नहीं है।

अनित्यसंयोगात् = जननमरणशील अर्थ के साथ संयोग अर्थात् वाचकता सम्बन्ध होने से, मन्त्रानर्थक्यम् = मन्त्रों का स्वार्थ निष्प्रयोजन है। यह पूर्वपक्ष है।

अब सिद्धान्त पक्ष के सूत्रों को सूत्रित किया जाता है—

अर्थ—"वाक्यार्थ तो समान है"

यहाँ पर 'तु' शब्द के द्वारा यह निराकरण किया जाता है कि अदृष्ट के लिये मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। क्रिया और कारक के संबंध से प्रतीत होने वाला वाक्यार्थ लोक और वेद में अवशिष्ट होता है। जिस प्रकार

गेऽपि द्रष्टव्यम्। मन्त्रेण प्रकाशितस्तु अर्थोऽनुष्ठातुं शक्यते, न तु अप्रकाशितः। तस्मान् मन्त्रोच्चारणस्य अथप्रकाशनरूप-दृष्टमेव प्रयोजकम्।

ननु 'अभ्रिरसि नारिरसि' (वा० सं० ११।१०) इत्यारभ्य 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा ददे' (तै० सं० ४।१।१।३-४) इति मन्त्र आम्नातः। तेनैव मन्त्रेण प्रतीतेऽपि अभ्रयादाने, पुनर्ब्राह्मणे 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' (तै० सं० ५।१।१।४) इति विधीयते। (श० ब्रा० ६।३।१३९)। तदेतद् विधानं त्वत्पक्षे व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

लोक में अर्थबोध के लिये वाक्य का उच्चारण होता है, उसी प्रकार वैदिक याग के प्रयोग में भी मानना चाहिये। मन्त्र से प्रकाशित ही अर्थ का अनुष्ठान किया जा सकता है अप्रकाशित अर्थ का नहीं। इससे मन्त्रोच्चारण का अर्थ-प्रकाशन रूप दृष्ट ही प्रयोजन है।

'अभ्रिरसि नारिरसि' इससे लेकर 'त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसाददे तक एक मन्त्र है। इसी मन्त्र के द्वारा कुदालग्रहण के प्रतीत हो जाने पर भी, पुनः ब्राह्मण में इस प्रकार विधान किया गया है 'तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते' अर्थात् चार मन्त्रों से कुदाल का ग्रहण करता है, मन्त्र के द्वारा ज्ञात विषय का विधान जो ब्राह्मण वाक्य में हुआ है, वह तुम्हारे पक्ष में व्यर्थ है।

शारदी--शिष्टस्तु वाक्यार्थः (१।२।४०) लौकिक और वैदिक वाक्यों के भेद का कारण न रहने पर दोनों एक ही प्रकार के हैं। लौकिक वाक्यों से जिस प्रकार अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वैदिक वाक्यों से भी उसी तरह वाक्यार्थ का प्रकाशन होता है। पूर्वपक्ष के द्वारा यह स्थिर हुआ है कि मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं है; क्योंकि मन्त्रों के स्वार्थ की विवक्षा मानने पर प्रदर्शित दोषों की सम्भावना है; अतः मन्त्रों को अदृष्टार्थक मानना ही युक्तिसङ्गत है।

जिस स्थल में दृष्ट प्रयोजन परिलक्षित नहीं होता है; वहाँ अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ती है। किन्तु; साधारण रूप में मन्त्रों से अनुष्ठेय कर्मों का स्मरण होने से वही मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन है।

यस्य दृष्टं न लभ्येत स्यात्तस्यादृष्टकल्पना।
अनुष्ठेयस्मृतेश्चेह मन्त्रोच्चारणमर्थवत् ॥

'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः' (जै० १।२।४१) इति मन्त्रेण प्रतीतस्यैव अर्थस्य ब्राह्मणे यत् पुनः श्रवणं तदेतच्चतुःसंख्यालक्षणगुणविधानार्थत्वेन उपयुज्यते। एतस्य विधानस्य अभावे चतुर्णां मन्त्राणां मध्ये येन

अतः यज्ञ का विषय एवं यज्ञाङ्गों का प्रकाश कर ही मन्त्रोच्चारण सार्थक होता है। इसलिए मन्त्रों के स्वार्थ में आनर्थक्य की प्रसक्ति नहीं है। फलतः, अदृष्ट=अपूर्व ही मन्त्रों का प्रयोजन नहीं है।

'अवशिष्टः" = विलक्षण नहीं, 'तु'= किन्तु, तु शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण का सूचक है। "वाक्यार्थः" = वाक्य का अर्थ। [वैदिक वाक्यों का अर्थ लौकिक प्रयोग से विलक्षण नहीं है।] लौकिक और वैदिक दोनों स्थलों में वाक्यार्थ एक ही तरह अर्थ का प्रकाशक है।

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः (१।२।४१)

अर्थ--'गुणविधान के लिए पुनः श्रवण हुआ है।'

मन्त्र के द्वारा ज्ञात ही अर्थ का ब्राह्मण में जो पुनः श्रवण का विधान हुआ है वह चार संख्या रूप गुणविधान के निमित्त उपयुक्त है। इस विधान के न होने पर चार मन्त्रों में से जिस किसी भी एक मन्त्र के द्वारा कुदाल का आदान हो जाता है। (अतः ब्राह्मण व्यर्थ नहीं है)।

शारदी--"तां चतुर्भिरभ्रिमादत्ते" (श० ब्रा ९ ६।३।१।१९) इत्यादि ब्राह्मण वाक्यों के मन्त्रों से प्रकाशित विषय का ही उल्लेख किया गया है, चतुःसंख्यारूप गुण विधान करना ही इसका उद्देश्य है। अभिप्राय यह है कि अभ्रिग्रहण विषयक चार मन्त्र हैं, उनमें किसी एक का उच्चारण करके ही अभ्रि का ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु, उक्त ब्राह्मण ग्रंथ से यह कहा गया है कि अभ्रिग्रहण काल में इन चार मन्त्रों का पाठ करना चाहिये, इसलिए, इन स्थलों में पुनः उल्लेख न होने पर मन्त्र का स्वार्थ के प्रकाश में कोई बाधा नहीं है।

"गुणार्थेन"= गुण विधान रूप प्रयोजन के लिए, "पुनः श्रुतिः"=पुनः ब्राह्मण वाक्य पढ़ा गया है।

ननु 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' (वा० सं० २२।२) 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' (तै० सं० ५।१।२।१) इत्यत्र मन्त्रसामर्थ्यादेव प्राप्तस्य रशनादानस्य पुनर्ब्राह्मणवाक्यं (श० ब्रा० १३।१८।१) विनियोजकमाम्नायते। तदेतत् त्वन्मते व्यर्थमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'परिसंख्या' (जै० १।२।४२) इति।

'गर्दभाभिधानीं नादत्ते' इति निषेधः परिसंख्या तदर्थमिदं ब्राह्मणवाक्यम्।

ननु परिसंख्यायां त्रयो दोषाः प्राप्नुयुः—'आदत्ते' इति शब्दो रशनादानलक्षणं स्वार्थं जह्यात्। तन्निषेधलक्षणः परार्थोऽस्य शब्दस्य कल्प्येत, रशनात्वसामान्येन च प्राप्तं गर्दभरशनाया आदानं बाध्येत इति त्रयो दोषाः। मैवम्, गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वात्। तथा हि—तत्पक्षे प्रकरणपाठान्यथानुपपत्त्या मन्त्रेणानेन आदानं कुर्य्यादिति

'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मन्त्र सामर्थ्य से ही प्राप्त रशनादान के लिए पुनः मन्त्र का विनियोग बताने वाला ब्राह्मणवाक्य 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' आम्नात किया गया है। इसलिए तुम्हारे मत में यह ब्राह्मण वाक्य व्यर्थ होगा इस शंका का उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है।

अर्थ—'गर्दभ की लगाम को न पकड़े' यह निषेध परिसंख्या है। उस निषेध के लिए यह ब्राह्मण वाक्य उपयोगी है।

परिसंख्या में तीन दोष पाये जाते हैं—'आदत्ते' यह शब्द रशनादान रूप अपने अर्थ का परित्याग कर देता है। 'आदत्ते' शब्द रशनादान निषेधरूप दूसरे अर्थ की कल्पना करता है। और सामान्य रशनादान से जो गर्दभ-रशना का आदान प्राप्त था उसका बाध होता है। 'अश्वाभिधानीमादत्ते' अर्थात् 'अश्व की रशना का आदान करना' यह अर्थ सुनाई पड़ता है, उसको छोड़ दिया जाता है, 'गर्दभ की रशना का आदान न करना' इस अश्रुत अर्थ की कल्पना की जाती है। सामान्य रशनादान से प्राप्त गर्दभरशना का बाध होता है। सिद्धान्त पक्षी के अनुसार प्रकृत स्थल में यह दोष नहीं है गर्दभ-रशना की प्राप्ति न

वाक्यं परिकल्प्यते। तेन च वाक्येन मन्त्रादानयोः सम्बन्धे सिद्ध सति पश्चात् किं विषयकमादानमिति वीक्षायां लिङ्गाद् रशनामात्रस्य आदानमुपेत्य गर्दभरशनायाः प्राप्तिर्वक्तव्या। सा च विलम्ब्यते। 'इति अश्वाभिधानीम्' इति प्रत्यक्षेण वाक्येन मन्त्रादानयोः सम्बन्धे सति लिङ्गाद् रशनामात्रे प्राप्तमादानम् 'अश्वाभिधानीम्' इति श्रुत्वा विशेषे व्यवस्थाप्यते। ततो मन्त्रस्य निराकाङ्क्षत्वाद् गर्दभरशनाया अप्राप्तत्वान् नास्ति प्राप्तबाधः। अत एव निषेधार्थो न कल्प्यते, विध्यर्थश्च न त्यज्यते। तत्र कुतो दोषत्रयम् ? ईदृशम् अप्राप्तिरूपमेव गर्दभरशनाया निवारणमभिप्रेत्य 'परिसंख्या' इति सूत्रितम्।

होने के कारण। जैसा कि प्रकरण-पाठ अन्यथा अनुपपन्न है इसलिए इस वाक्य की कल्पना करते हैं कि इस मन्त्र से आदान करना चाहिये। इस वाक्य से मन्त्र और आदान का सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर तत्पश्चात् किसका आदान करना चाहिये यह आकांक्षा होने पर लिङ्ग से अर्थात् मन्त्र सामर्थ्य से रशनामात्र अर्थात् अश्वरशना तथा गर्दभरशना इन दोनों के आदान में मन्त्र प्रवृत्त होता है; प्रतीति विलम्ब से होती है। 'इति अश्वाभिधानीमादत्ते' इस प्रत्यक्ष वाक्य के द्वारा मन्त्र और आदान का सम्बन्ध होने पर 'अश्वाभिधानीम्' इस श्रुति के द्वारा यह मन्त्र अश्वरशनादानरूपविशेष में व्यवस्थित कर दिया जाता है, जब कि लिङ्ग से यह रशना सामान्य में विनियुक्त होता है। अश्वरशनादाव में प्रयुक्त होने पर यह मन्त्र निराकांक्ष हो जाता है और गर्दभरशना की प्राप्ति ही नहीं होती है अतः प्रकृत में प्राप्त बाध नहीं होता है। इसलिए निषेधार्थ की कल्पना नहीं की जाती है और विध्यर्थ का परित्याग नहीं किया जाता है।त ब प्रकृत में तीन दोष कहाँ है ? इस प्रकार गर्दभरशना के प्राप्त न होने पर भी उसका जो निवारण किया गया है उसी को अभिप्रेत कर यहाँ 'परिसंख्या' सूत्र सूत्रित किया गया है।

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का आशय है कि "अभ्रिरसि नार्य्यसि" (वा० सं० ११।१०) यहाँ से आरम्भ कर "त्रैष्टुभेन त्वाच्छन्दसा ददे" यह मन्त्र कहा गया है, इसी मन्त्र से अभ्रि के आदान की प्रतीति सिद्ध है, पुनः ब्राह्मण में 'तां

ननु 'उरु प्रथस्व इति प्रथयति' इति ब्राह्मणस्य वैयर्थ्यं तदवस्थमेव इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'अर्थवादो वा' (जै० १।२।४३) इति ।

चतुर्भिरग्निमादत्ते इति विधीयते' (श० ब्रा० ६।३।१।१९) यह विधान व्यर्थ है। इसके उत्तर में कहा है कि मन्त्र से प्रतीत अर्थ का ही ब्राह्मण में पुनः श्रवण चार संख्या के विधान के रूप में उपयुक्त है। चार संख्या लक्षण गुण के लिए विधान न होने पर मन्त्रों में किसी एक मन्त्र से अग्नि का आदान हो जाता है।

परिसंख्या (१।२।४२)—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य'

शारदी—"इत्यश्वाभिधानीमादत्ते" (वा० सं० २२।२) इत्यादि वाक्य कहे गये हैं, किन्तु पुनः उल्लेख नहीं है। कारण, 'अश्वरशना' एवं 'गर्दभरशना' दोनों की ही प्राप्ति की सम्भावना है। ब्राह्मण वाक्य में कहा गया है कि गर्दभ-रशना ग्रहणीय नहीं है, अश्वरशना ही ग्राह्य है। इस प्रकार की विधि न रहने पर गर्दभरशना भी ग्राह्य हो सकती थी, कारण, अश्वरशना के समान वह भी प्रकरण-प्राप्त है। किन्तु, ब्राह्मणोपदिष्ट-परिसंख्या विधि गर्दभरशना की व्या-वृत्ति कर देती है। इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी कह सकते हैं कि परिसंख्या अर्थात् अन्य की निवृत्ति स्वीकार करने पर तीन दोषों की प्राप्ति होती है।

१—श्रुतार्थत्याग—श्रुत अर्थात् वाक्यप्राप्त गर्दभरशनाग्रहणरूप अर्थ का परित्याग करना होगा।

२—अश्रुत अर्थ की कल्पना—गर्दभरशना ग्रहणत्यागरूप अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी होगी।

३—प्राप्तबाध—प्रकरण या लिङ्ग अर्थात् सामर्थ्यवश प्राप्त गर्दभरशना का बाध करना होगा। अश्वरशना के समान गर्दभरशना भी प्रकरण या लिङ्ग के अनुसार ग्रहणीय होता है, किन्तु परिसंख्या के द्वारा बाधित होकर अश्वरशना के ग्रहण में ही पर्यवसित होता है, इस प्रकार तीनों दोषों की प्रसक्ति होती है। पूर्वपक्षी ने परिसंख्या में इन तीनों दोषों का उद्भावन किया है। किन्तु, ये दोष सङ्गत नहीं हैं। कारण, प्राप्त विषय का बाध

होने पर ही उक्त तीन दोषों की सम्भावना होती हैं—किन्तु, इस स्थल में प्रकरण या लिङ्गवश गर्दभरशना की प्राप्ति से पूर्व ही प्रत्यक्ष श्रुति के आधार पर अश्वरशना ग्रहण बोधित है, अतः, प्राप्तार्थ का बाध नहीं होता हैं। क्योंकि, प्रकरण या लिङ्ग स्वयं विनियोजक नहीं होता है, प्रकरण के द्वारा वाक्य, वाक्य के द्वारा लिङ्ग या सामर्थ्य एवं सामर्थ्य के द्वारा विधायिका श्रुति अनुमित होती है।

"इत्यश्वाभिधानीम्" इस स्थल में प्रत्यक्ष श्रुति ही अश्वरशना के ग्रहण का विधान करती है। प्रत्यक्ष श्रुति की अपेक्षा लिंग या प्रकरण परवर्ती है, उसके द्वारा प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा किसी पदार्थ के प्राप्त होने के बाद ही अन्य पदार्थ की प्राप्ति होती है। जिस समय प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा किसी पदार्थ का विधान होता है, उस समय लिङ्ग आदि के द्वारा विहित पदार्थ की प्राप्ति की उपस्थिति न होने से उसके बाध का प्रश्न ही नहीं उठता है। अनुपस्थिति का बाध कैसे सम्भव है? प्राप्त अर्थ का बाध न होने पर निषेध रूप पदार्थ की कल्पना एवं विधि के स्वार्थ त्याग का भी प्रश्न नहीं है। इस दृष्टि से मीमांसकों ने स्वीकार किया है कि प्राप्त परिसंख्या में ही तीन दोषों का प्रसङ्ग होता है, अप्राप्त परिसंख्या दोष शून्य है। अतः 'त्रिविध दोषों में एक दोष भी यहाँ सम्भावित नहीं है। फलतः, परिसंख्या के कारण इस स्थल में पुनरुल्लेख नहीं है।

'परिसंख्या'=अन्य निवृत्ति। 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इत्यादि स्थल में परिसंख्या अर्थात् अन्य की निवृत्ति के लिए ही ब्राह्मणवाक्य कहा गया है।

आशय यह है कि "इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य" (वा० सं० २२। २) 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इस मन्त्र के सामर्थ्य से ही प्राप्त रशनादान का ब्राह्मणवाक्य विनियोजक है, इसका पुनः कथन व्यर्थ है। 'गर्दभाभिधानीमादत्ते' यह परिसंख्या है। परिसंख्या में तीन दोष हैं—आदत्ते यह रशनादान रूप स्वार्थ का परित्याग करेगा, गर्दभरशना के आदान का निषेध रूप अन्य अर्थ की शब्द से कल्पना करनी पड़ेगी, रशनात्व सामान्य के आदान से गर्दभरशना और अश्वरशना इन दोनों के आदान की प्राप्ति होने से गर्दभरशना के आदान का बाध होगा। इस प्रसंग में सिद्धान्ती का कथन है कि गर्दभरशना की अप्राप्ति की

वाशब्दो वैयर्थ्यं वारयति। अस्त्यत्र अर्थवादः 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' इति तेन अर्थवादेन सम्बन्धाय ब्राह्मणे विधिः पठ्यते।

ननु प्रथयति इत्यनेनैव विधिशब्देन प्रथनमनूद्य 'यज्ञपतिमेव' इत्यादिना अर्थवादेन स्तोतव्यम्। तदेव तु प्रथनं कुतः प्राप्तमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'मन्त्राभिधानात्' इति अध्वर्य्युः पुरोडाशमुद्दिश्य मन्त्रे 'प्रथस्व' इत्येवमभिधत्ते। तस्मादभिधानाद् अध्वर्युकर्त्तृकं प्रथनं प्राप्तम्। यथा,

---

अप्राप्ति ही है। प्रकरण पाठ की अन्यथा अनुपपत्ति होने से इस मन्त्र से 'आदान–ग्रहण करना चाहिये' इस वाक्य की परिकल्पना होती है। इस वाक्य से मन्त्र और आदान का सम्बन्ध सिद्ध होने के बाद किस विषय का आदान किया जाय इस अन्वेषण में लिङ्गवश रशनामात्र का आदान प्राप्त होने से गर्दभरशना की प्राप्ति होनी चाहिये। किन्तु, यह विलम्ब से प्राप्त है। अतः 'अश्वाभिधानीम्' इस प्रत्यक्ष वाक्य से मन्त्र और आदान का सम्बन्ध रहने पर लिंगाधीन रशना अर्थ का प्राप्त आदान की 'अश्वाभिधानीम्' इस श्रुति से विशेष व्यवस्था होती है। रशना विशेष का आदान अश्वरशना के आदान से मन्त्र निराकाङ्क्ष हो गया है; अतः गर्दभरशना के आदान की अप्राप्ति होने से प्राप्त का बाध नहीं होता है। इसलिए निषेधार्थ की कल्पना और विधि व अर्थ का त्याग यहाँ नहीं है। अप्राप्त गर्दभरसना का निवारण की दृष्टि से परिसंख्या अर्थात् अन्य निवृत्ति कही गई है।

अर्थ—इस सूत्र में प्रयुक्त वा शब्द ब्राह्मण वाक्य के वैयर्थ्य का निवारण करता है। यहाँ पर 'यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति' यह अर्थवाद है। उस अर्थवाद के साथ सम्बन्ध के लिए ब्राह्मण में विधि का पाठ किया गया है।

यहाँ शङ्का उठती है कि 'प्रथयति' इस विधि शब्द से प्रथन का अनुवाद करके 'यज्ञपतिमेव' इत्यादि अर्थवाद से स्तुति होनी चाहिये। तो वह प्रथन कहाँ से प्राप्त है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं—

'मन्त्र के अभिधान से'। अध्वर्यु पुरोडाश को उद्दिष्ट करके मन्त्र में 'उरु प्रथस्व' यह अभिधान करता है। उस अभिधान से अध्वर्युकर्तृक पुरोडाश प्रथन

लोके यः कुरु ब्रूते स कारयत्येव, तथा तत्रापि यः प्रथस्व इति ब्रूते स प्रथयत्येव।

यदुक्तम्, 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः' (ऋ० सं० ८।४४।१६) इति पाठक्रमनियमाद् अदृष्टार्थो मन्त्र इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'अविरुद्धं परम्' (जै० १।२ ४४) इति।

परं द्वितीयसूत्रोक्तमस्मत्पक्षेऽपि अविरुद्धम्। न हि वयं पाठक्रमनियमाद् अदृष्टं निवारयामः। किं तर्हि ? मन्त्रोच्चारणेन जायमान-

---

प्राप्त होता है। जैसे लोक में जो 'करो' ऐसा कहता है, वह करवाता ही है। उसी प्रकार जो 'फैलो' ऐसा कहता है वह फैलाता ही है।

शारदी—अर्थवादो वा (१।२।४३)—"उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" (तै० ब्रा० ३।२।८।४) यह ब्राह्मण वाक्य न तो मन्त्र का विधायक है और न प्रशंसा है। यह वाक्य 'यज्ञपतिमेव तं प्रथयति' यह वाक्य मन्त्रार्थ का ही अनुवादक है इसके द्वारा मन्त्र-प्राप्त प्रथन की इससे प्रशंसा की गई है। इस सूत्र में 'वा' शब्द वैयर्थ्य का वारण करता है। अर्थवाद से सम्बन्ध के लिये ही ब्राह्मण में विधि कही गई है।

'अर्थवाद.'='वा' (एव)=आशङ्कित विफलता के निवारण के लिए है। "उरु प्रथस्वेति प्रथयति" इस स्थल में अर्थवाद होने से ब्राह्मण ग्रन्थ में मन्त्र के अर्थ का अनुवाद किया गया है।

अर्थ—शङ्कापक्ष के अनुसार 'अग्निमूर्द्धा दिवः' आदि मन्त्रों में पाठक्रम का नियम होने से सिद्ध है कि मन्त्र का अदृष्ट प्रयोजन होता है। इसके उत्तर को सूत्रित करते हैं—

पर अर्थात् द्वितीय सूत्र में जो नियत क्रम वाला मन्त्र पाठ अदृष्टार्थ कहा है वह हमारे अर्थ स्मारण पक्ष में भी विरुद्ध नहीं। तो फिर क्या ? हम इतना ही कहते हैं कि मन्त्रोच्चारण से जायमान जो अर्थज्ञान रूप दृष्ट प्रयोजन है उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

शारदी—अविरुद्ध परम् (१।२।४४)—शंकापक्ष में 'अग्निमूर्द्धा दिवः' इत्यादि मन्त्रों का पद विन्यास का क्रम नियत है, अर्थात् क्रम से किसी प्रकार

मर्थप्रत्यायनं दृष्टप्रयोजनत्वात् न उपेक्षितव्यम् इत्येतावदेव ब्रूमः।

ननु 'प्रोक्षणीरासादय' (वा० सं० १।२८) इति मन्त्रो बुद्धमेव शास्ति तद् अयुक्तम्। सोपानत्कस्य उपानदन्तरासम्भवात् इत्युक्तमिति चेत्? तस्य परिहारं सूत्रयति—

'संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्' (जै० १।२।४५) इति।

संप्रैषकर्म्मणो गर्हा त्वदुक्तदोषो न उपलभ्यते। बुद्धस्याप्यर्थस्य मन्त्रेणैव अनुस्मरणे सति नियमादृष्टलक्षणस्य संस्कारस्य सद्भावात्।

का परिवर्तन सम्भव न होने से (अपरिवर्तनीय होने से) वह अदृष्टार्थक है—यह सभी स्वीकार करते हैं। जिस रूप में मन्त्र का पाठ है, उसी रूप में वह उच्चारणीय है, व्यतिक्रमकर उच्चारण करने पर वह याग के फल के साधनीभूत अपूर्व का जनक नहीं होता है। किन्तु, अदृष्ट के अनुरोध से अर्थ-प्रकाश रूप दृष्ट प्रयोजन का अपलाप करना उचित नहीं है। क्योंकि, अदृष्ट दृष्ट का विघातक नहीं हो सकता है। कारण, दृष्ट के उपपादन के लिए ही अदृष्ट की कल्पना होती है, इसलिए आचार्य उदयन ने कहा है—"नादृष्टं दृष्टघातकम्" (कुसु० ५।४) अतः, द्वितीय दूषण मेरे सिद्धान्त का विरोधी नहीं है।

"अविरुद्धम्" = विरुद्ध नहीं है, परम् = द्वितीय वचन, वाक्यनियमात् = यह वचन हमारे सिद्धान्त का विरोधी नहीं है।

अर्थ—'प्रोक्षणीरासादय' यह पहले से ही जानी हुई बात को करने का शासन करता है, यह युक्त नहीं है। जिस पैर में पहले से उपानह (जूता) विद्यमान है उसमें दूसरा उपानह धारण करना असम्भव है—इस शंका का समाधान सूत्र से कहते हैं—

सम्प्रैष कर्मणोगर्हानुपालम्भः संस्कारत्वात् (१।२।४५)—

आज्ञावाचक कर्म की निन्दा अर्थात् तुम्हारे द्वारा कहा गया दोष उचित नहीं है। ज्ञात अर्थ का मन्त्र द्वारा अनुस्मरण करने पर नियमादृष्ट रूप संस्कार की उत्पत्ति होती है।

शारदी :—'बुद्धशास्त्रात्' इस सूत्र में शंकापक्षियों ने दोष उद्भावन किया है, किन्तु वह ठीक नहीं है। क्योंकि मन्त्र के द्वारा अनुष्ठेय विषय का स्मरण

यच्चोक्तम्, 'चत्वारि श्रृङ्गाः' (ऋ० सं० ४।४८।३) इति मन्त्रोऽसन्तमेव अर्थमभिधत्त इति तस्य उत्तरं सूत्रयति—

'अभिधानेऽर्थवादः' (जै० १।२।४६) इति ।

असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्य अर्थस्य उक्तिर्द्रष्टव्या । तद् यथा–चत्वारो होत्रध्वर्यूद्गातृब्रह्माणोऽस्य कर्मणः श्रृङ्गाणि, प्रातः सवनादयस्त्रयः पादाः, पत्नीयजमानौ द्वे शीर्षे, गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि

होता है। मन्त्र के द्वारा स्मरण करने पर याग सम्बन्धी अपूर्व निष्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। अतः, ऐसे स्थलों में मन्त्र के द्वारा स्मरण करना चाहिये—इसी नियम की कल्पना करनी चाहिये।' संस्कारत्वात्' इसके अर्थ में आचार्य कुमारिल ने कहा है कि--स्मृति उद्बोधक-सापेक्ष है और मन्त्र स्मरणीय-विषयक रूप उद्बोधनरूप संस्कार का साधन है। अतः मंत्र के द्वारा अग्नीध्र का संस्कार अर्थात् स्मृति का उद्बोध न होने से वह निरर्थक नहीं है। इसलिये जूता पहने हुए पैर में पुनः जूता के पहनने का दृष्टान्त इस स्थल में उपयुक्त नहीं है।

"सम्प्रैष"=अग्नीदग्नीन् विहर' इत्यादि प्रैषण में, 'कर्मगर्हा'=ज्ञातकर्म की पुनः ज्ञापनरूप निन्दा या दोष का उदाहरण दिया है वह "अनुपालम्भः"= निन्दा या दूषण नहीं है 'संस्कारत्वात्'= क्योंकि, उसके द्वारा अग्निध्र का संस्कार होता है।

अर्थ--पूर्वपक्षी ने 'अविद्यमानवचनात्' इस सूत्र के द्वारा असत् अर्थ के प्रतिपादक वाक्य में गौण अर्थ के प्रतिपादन की आशङ्का व्यक्त की हैं। इसी दृष्टि से, यह सूत्र लिखा हैं।

अभिधानेऽर्थवादः (जै० १।२।४६)

चत्वारि श्रृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य ।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

क्योंकि-- (ऋ० ४।५८।३)

इस मंत्र में रूपक के व्याज से यज्ञ पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यज्ञ पुरुष के चार श्रृङ्ग हैं—होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा। ये चार ऋत्विक् यज्ञ के 'श्रृङ्ग' चूडास्वरूप हैं। प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय

हस्ताः, ऋग्वेदादिभिस्त्रिभिर्वेदैस्त्रेधा बन्धनम् । कामान् वर्षति इति वृषभः, रोरवीति स्तोत्रशस्त्रादिशब्दान् पुनः पुनः करोति, महो देवः सोऽयं प्रौढो यज्ञरूपो, देवः मर्त्यान् आविवेश इति मनुष्या एव अत्राधिकारिणः । लोकेऽपि एवं गौणप्रयोगा दृश्यन्ते–'चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली, काशवस्त्रा, सैवालकेशिनी' इत्येवं नद्याः स्तूयमानत्वात् । एवम् 'ओषधे त्रायस्व', 'शृणोत ग्रावाणः' इत्याद्यचेतनसम्बोधनानि स्तुतिपरत्वेन योजनीयानि । तस्मिन् वपने ओषधिरपि त्रायते तत्र वपनकर्त्ता त्रायत इति किमु वक्तव्यम् । तथा ग्रावाणोऽपि प्रातरनुवाकं शृण्वन्ति किमुत विद्वान्सो ब्राह्मणा इत्यादि आमन्त्रणाभिप्रायः ।

सवन—ये तीन सवन तीन 'पाद' चरण रूप हैं । यजमान एवं उनकी पत्नी ये दो 'शीर्ष' मस्तकस्वरूप हैं । गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती ये सात छन्द सात हस्त स्वरूप हैं । ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद इन तीन वेदों के द्वारा ऋक्, यजु और साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों में तीन प्रकार से आबद्ध हैं । कामना को सफल करने वाला=कामनावर्षण कारी 'वृषभ' पुनः पुनः शब्द करता है । 'रोरवीति' यज्ञ में ऋत्विग् गण 'स्तोत्र' 'शस्त्र' आदि की आवृत्ति से के शब्द शब्दायमान है । महान् देव=परिपूर्ण यज्ञपुरुष ने अर्थात् 'महोदेवः' ।मर्त्यां आविवेश=मनुष्यों में प्रवेशलाभ किया है । त्रैवर्णिक मनुष्य ही यज्ञ के अधिकारी है । लोक में भी इस प्रकार के प्रयोग दिखलाई पड़ते हैं, जैसे चक्रवाकस्तनी, हंसदन्तावली (हंस रूप दाँत की पंक्तिवाली) काशवस्त्र, शैवाल-केशिनी इत्यादि रूपक के द्वारा नदी का वर्णन मिलता है, प्रकृत संदर्भ में भी रूपक के द्वारा यज्ञपुरुष का वर्णन किया गया है, अतः यह अविद्यमार्थ वचन नहीं हैं । इसी प्रकार 'ओषधे त्रायस्व' और 'शृणोत ग्रावाणः' इत्यादि अचेतनविषयक संबोधनों को स्तुतिपरक जानना चाहिये । जिस केश-वपन में ओषधि भी रक्षा करती है उसमें इसका तो कहना ही क्या है कि वपनकर्ता रक्षा करता है । उसी प्रकार पाषाण भी प्रातरनुवाक को सुनते हैं विद्वान् ब्राह्मणों का कहना ही क्या है ? यह संबोधनों का अभिप्राय है ।

योऽपि, 'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' (ऋ० सं० १।८९।१०) इति विप्रतिषेध उक्तः, तस्य उत्तरं सूत्रयति—

शारदी :—इस मन्त्र का आशय व्यक्त करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि इस मन्त्र के द्वारा महादेव रूप शब्द ब्रह्म का स्वरूप वर्णित है। निरुक्तकार यास्क ने यज्ञपुरुष के स्वरूप का प्रतिपादक इस मन्त्र को माना है। व्याकरण की उपयोगिता-प्रदर्शन-प्रसङ्ग में पतञ्जलि ने कहा है :—

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार शृङ्ग के समान हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल तीन चरण के समान है। सुबन्त की सात विभक्तियाँ सात हाथ के समान है, हृदय, कण्ठ और मस्तक इन तीन स्थानों के विशेष सम्पर्श से अभिव्यक्त होने से तीन प्रकार से आबद्ध है। यह कामना-वर्षणकारी अर्थात् वृषभ है। यह शब्द विवर्तप्रपञ्च का प्रसार करता है, यह महादेव अर्थात् शब्द ब्रह्म है। वह मनुष्यों में प्रवेश करता है अर्थात् सभी जीव उससे अभिन्न रहने पर भी अर्थात् जगत् शब्द ब्रह्म का विवर्त होने से उसी में अध्यस्त अर्थात् आध्यासिक सम्बन्ध से कल्पित है और कल्पित वस्तु का अधिष्ठानशक्ति से अतिरिक्त सत्ता नहीं है, अतः कल्पित वस्तु का अधिष्ठान से भेद नहीं है, मनुष्यों के मध्य में ही विशेषरूप में प्रकट होता है।

व्याख्याकार सायणाचार्य का मन्त्र के विनियोग के अनुसार सारार्थ निम्न-लिखित है। अग्नि आदि पाँच देवताओं के अनुसार पाँच प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

सूर्यपक्ष की व्याख्या--

दिन का चार प्रहर चार शृङ्ग के समान है। शीत, ग्रीष्म और वर्षा ये तीन प्रकार की ऋतुएँ तीन चरण के समान हैं। उत्तरायण और दक्षिणायन ये दो अयन मस्तक के समान है। सूर्य के सात अश्व सात हाथ के समान है। प्रातः सवन, माध्यन्दिन और तृतीय सवन--इन तीन सवनों के द्वारा त्रिधा तीन प्रकार से बद्ध है। यह वृष्टि का हेतु होने से वृषभ है। मेघशब्द के द्वारा यह महा-शब्द करता है एवं समस्त मानव समाज में प्रविष्ट होने से महादेव है। यह सभी

मानवों में प्रवेश करता है अर्थात् सभी को उत्साहित करता है सूर्योदय के कारण सभी उत्साहयुक्त होते हैं।

इसी प्रकार 'अचेतने अर्थसम्बन्धात्' इस सूत्र में जो आपत्ति प्रदर्शित की गई है वह भी ठीक नहीं है। 'ओषधे त्रायस्वैनं' स्वधिते मैनं हिंसीः (तै० सं० १।२।१।१) इन मन्त्रों का यज्ञ में केश वपनरूप संस्कार के समय यथाक्रम में कुश और क्षुरा को उद्देश्य कर पाठ होता है। जिस वपनकर्म में अचेतन औषधि एवं अस्त्र भी रक्षा करता है--हिंसा नहीं करता है उस कर्म में चेतन वपनकर्ता रक्षा करेगा, हिंसा नहीं करेगा--इस विषय में क्या कहना है ?

'शृणोत ग्रावाणः' (तै० सं० १।३।१३।१) यह मन्त्र प्रातःकालीन अनुवाक के अध्ययन के समय पढ़ा जाता है। अचेतन प्रस्तर आदि भी जब पाठ्यमान अनुवाक श्रवण करता है, तब विद्वान् ब्राह्मण अवश्य ही सुनेगा।

ऐसे स्थलों पर वेदान्तियों ने अन्य प्रकार से उपपत्ति प्रदर्शित की है। 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्' (वे० द० २।१।५) इस सूत्र के व्याख्यान में आचार्य शङ्कर ने कहा है "मृदब्रवीत् आपोऽब्रुवन' (श० प० ब्रा० ६।१।३।२, ४) (मृत्तिका बोली, जल बोला, तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त (छा ६।२।३,४) तेज ने देखा, जल ने देखा। 'ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः' (वे इन्द्रियाँ अपनी प्रधानता के लिये विवाद करती हुई ब्रह्म के पास गई इत्यादि प्रसंग में अचेतनभूत इन्द्रिय आदि का चेतन के समान आचरण कहा गया है, किन्तु यह जडभूत इन्द्रियों का कथनं नहीं है अपितु मृत्तिका जल, तेज एवं इन्द्रिय आदि के अभिमानी चेतन देवता का ही उल्लेख है। क्योंकि श्रुतियों में भूत इन्द्रिय आदि अचेतन एवं तद्भोक्ता चेतन का वैशिष्ट्य कहा गया है। इसी प्रकार अग्निर्वा भूत्वा मुखं प्राविशत् (तै० आ० २।४।२।४) आदि श्रुतियों में जहाँ वाग् आदि इन्द्रियों में देवता की अनुगति अर्थात् अनुगम या अधिष्ठातृ रूप में आश्रय कहा गया है, वहाँ उनके अभिमानी चेतन देवता का ही उल्लेख उस नाम से किया गया है।

'अभिधाने' = अविद्यमान विषयक वचन सम्बन्ध में जो कहा गया है वह "अर्थवादः = प्रशंसा अर्थात् गौण अर्थ में प्रयुक्त है।

'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' (जै० १।२।४७) इति ।

यथा 'त्वमेव पिता त्वमेव माता' इत्यत्र गौणप्रयोगाद् अविरोध-स्तद्वत् । एवमेकरुद्रदेवत्वे कर्म्मणि एको रुद्रः शतरुद्रदेवत्वे शतं रुद्रा इति अविरोधः ।

अर्थ—(ऋ० सं० १।८।९।१०) इस मन्त्र में परस्पर विरुद्ध अर्थ प्रति-पादन रूप दोष का प्रदर्शन किया है। उसका समाधान करते हुए आचार्य जैमिनि ने सूत्र कहा है 'गुणादविप्रतिषेधः स्यात्' जिस तरह त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इस लौकिक वाक्य में गौण अर्थात् (लाक्षणिक प्रयोग मानकर आपाततः प्रतीत विरोध की आशंका नहीं रहती है अर्थात द्यौ और अन्तरिक्ष की अदिति के रूप म स्तुति की गई है। एक रुद्र के प्रयोग वाले कर्म में 'एको रुद्रः' कहा जाता है और सौ रुद्र के प्रयोग वाले कर्म के लिये 'शतं रुद्रा' कहा जाता है। इस संगति के आधार पर परस्पर विरोध समाप्त हो जाता है।

शारदी:—आशय यह है कि गुणात्–गौण प्रयोग मानकर, अप्रतिषेधः = विरोध नहीं है। पूर्वपक्षी ने 'अदितिर्द्यौ' इत्यादि मन्त्र में विरोध का प्रदर्शन किया है। यहाँ प्रदर्शित लौकिक प्रयोग के आधार पर गौणार्थक मानकर विरोध का निवारण किया जाता है। इसी आधार पर 'एको रुद्रः' एवं सहस्राणि सहस्रों वा रुद्राः' इत्यादि मन्त्रों में भी विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि एक रुद्र जिस कर्म के देवता रहते हैं उस कर्म में इसी से अर्थात् एको रुद्रः इस मन्त्र का पाठ किया जाना चाहिए और जिस कर्म में हजार रुद्र देवता हैं अर्थात् शतरुद्र दैवत्य कर्म में सहस्राणि इत्यादि मन्त्र का पाठ करना चाहिए। इसीलिये कर्म-भेद-निबन्धन देवता का भेद होने पर भी किसी प्रकार के असामञ्जस्य का अवसर नहीं है।

प्रकृत में यह विचारणीय है कि रुद्र को एक बार एक और एक बार असंख्य कहा गया है तो उस रुद्र का स्वरूप कैसा है? क्योंकि मीमांसक विग्रहवान् देवता नहीं मानते इस विषय में नवम अध्याय का प्रथम जो देवताधिकरण के नाम [illegible] प्रसिद्ध हैं [illegible]में विशेष विचार किया गया है। अतः उसके स्वरूप को लेकर विवाद का प्रश्न ही नहीं उठता है। वेदान्तियों ने शाबर

भाष्य के व्याख्यान से असन्तुष्ट व्यक्तियों के लिये अन्य समाधान भी प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि एक रुद्र को छोड़कर अनेक रुद्र नहीं हैं। किन्तु हजार या करोड़ रुद्र की मूर्तियाँ उस रुद्र की ही महिमा या विभूति हैं। इसीलिये बृहदारण्यकोपनिषद् में शाकल्य और याज्ञवल्क्य संवाद में कहा गया है त्रयश्च त्रि च शता, त्रयश्च त्रि च सहस्रा महिमान एव एषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा: एको देव इति स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते (बृ० उ० ३।९।१।२।९)। शाकल्य ने प्रश्न किया कि याज्ञवल्क्य ! देवता कितने हैं ? याज्ञवल्क्य ने प्रथम बार उत्तर दिया तीन सौ तीन। दूसरी बार उन्होंने उत्तर दिया तीन हजार तीन, बाद ये उन्होंने कहा कि देवताओं की संख्या तैंतीस है। ये सब उन्हीं की महिमा है। अन्त में उन्होंने उत्तर दिया देवता एक है वही प्राण है अर्थात् हिरण्यगर्भ वही ब्रह्म है। उन्हीं को ज्ञानी लोग त्यत् इस नाम से पुकारते हैं। हम लोगों के देवताओं की संख्या तैंतीस करोड़ है। यह प्रवाद निर्मूल नहीं है क्योंकि इस शास्त्र सिद्धान्त के अनुसार वे इन्ही तैंतीस देवताओं की महिमा या विभूति हैं। ये तैंतीस देवता भी एक में ही पर्यवसित होते हैं। यद्यपि आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र एवं प्रजापति इन सभी विभिन्न नाम धारियों की समष्टि को लक्ष्य कर श्रुति में तैंतीस देवता कहे गये हैं किन्तु यह सत्य है कि यह प्रकार भेद ब्रह्म के औपधिक भेद के आधार पर ही किया गया है, इसीलिये श्रुति के उपसंहार में कहा गया है 'एको देव इति स ब्रह्मेत्यादित्याचक्षते। अन्यत्र भी ऋग्वेद में इसकी समानार्थक श्रुति का निर्देश मिलता है।

इन्द्रं मित्रवरुणमग्निमाहु: रथोदिव्य: स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधावदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ॥
(ऋ० १।१६८।४६)

एक ही सत् वस्तु को ब्राह्मणों ने इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि नाम से कहा है इसलिये वेदार्थविद् पूज्यपाद सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्यभूमिका में कहा है "परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेण अवस्थाना" परमेश्वर ही इन्द्रादि रूप में अवस्थित है इसलिये प्रकृति में 'एक एव रुद्र:' और 'सहस्र रुद्रास:' में कोई विरोध नहीं है। अत: अर्थ में संदिग्धता एवं अप्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता।

यदप्युक्तम्, स्वाध्यायमधीयानो माणवकः पूर्णिकायाः अवहर्ति न प्रकाशयितुमिच्छतीति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'विद्यावचनमसंयोगात्' (जै० १।२।४८ इति ।

वेदविद्याग्रहणकालेऽर्थस्य यदवचनं तदयज्ञसंयोगादुपपद्यते । न हि पूर्णिकाया अवघातो यज्ञसंयुक्तः, नापि माणवको यज्ञमनुतिष्ठति, अतो यज्ञानुपकारात् न तत्र अर्थविवक्षा ।

अर्थ—स्वाध्याय का अध्ययन करता हुआ बालक पूर्णिका के मूसल से कूटने को प्रकाशित नहीं करना चाहता है। उसका उत्तर देते हैं—'विद्याकाल में यज्ञ का संयोग न होने से अविवक्षा नहीं होती है ।' वेदविद्या के ग्रहण के समय पर जो अर्थ का कथन नहीं होता है वह यज्ञ का संयोग न होने से उपपन्न होता है। न तो पूर्णिका का अवघात यज्ञ से संबद्ध है और न माणवक यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है। अतः माणवक के स्वाध्याय से यज्ञ का कोई उपकार न होने से वहाँ अर्थ-विवक्षा नहीं है।

शारदी—विद्यावचनमसंयोगात् (जै० १।२।४८) —शंकापक्षी ने यह आपत्ति की थी कि पूर्णिका नाम के नारी की द्वारा धान का अवहनन और ब्रह्मचारी के द्वारा अवघात मन्त्र का पाठ दोनों की जो समानकालीनता है, इसमें किसी का वाचनिक संयोग नहीं है; अर्थात् पूर्णिका यज्ञ के लिये अवहनन अर्थात् निष्तुषीकरण नहीं कर रही है और न ब्रह्मचारी यज्ञ के लिये मन्त्र का पाठ कर रहा है; किन्तु काकतालीय न्याय के समान स्वभावतः ये दोनों घटनाएं साथ-साथ हो जाती हैं, इसलिए ब्रह्मचारी के द्वारा पढ़ा गया अवघात मन्त्र अर्थ का प्रकाशक नहीं हैं, किन्तु यज्ञ का मन्त्र पाठ शास्त्र वचन सिद्ध हैं और उनमें वाचनिक या बोधसंबंध रहता है इसलिये इस स्थल में स्वतः प्राप्त अर्थ प्रकाश निवारणीय नहीं है, या स्वाध्यायविधि स्थल के समान यहाँ भी विद्या अवचन अर्थात् विद्या का अर्थ ज्ञान के लिए अभिधान अर्थ सिद्ध है ।

आशयं यह है कि स्वाध्याय विधि में अर्थावबोध बोधित नहीं है वरन् वह अर्थ सिद्ध है, इसी प्रकार मन्त्रोच्चारण स्थल में भी अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाश मन्त्रसिद्ध है क्योंकि स्वाध्याय अध्ययन के द्वारा मन्त्र पाठ्य है एवं उसका अर्थ भी स्वाभा-

यदप्युक्तम्, 'अम्यक् सा त इन्द्र', सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादौ अर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् नास्त्येवार्थ इति तत्र उत्तरं सूत्रयति—

विक है। इसी विषय को सायण ने कहा है वेद विद्या के ग्रहण काल में अर्थ का जो अवचन है वह अयज्ञ के संयोग से उत्पन्न होता है, क्योंकि पूर्णिका जो अवघात कर रही है वह यज्ञ संयुक्त नहीं है। क्योंकि ब्रह्मचारी यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता है। इसलिये यज्ञ के अनुपकारी होने से यहाँ अर्थ की विवक्षा नहीं है।

पूर्वपक्षियों ने कहा कि 'अम्यक् सात इन्द्र' 'शृण्येव जर्भरी तुर्फरी तु' इत्यादि में अर्थ का ज्ञान असम्भव होने से अर्थ नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में जैमिनि ने कहा है 'सतः परमविद्यमानम्'। विद्यमान अर्थ का भी प्रमाद और आलस्य के कारण ज्ञान नहीं होता है, किन्तु निगम अर्थात् निरुक्त व्याकरण आदि के द्वारा धातु से उसके अर्थ की परिकल्पना करनी चाहिये। सम्पूर्ण मन्त्र निम्नलिखित हैं—

सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥
(ऋ० १०।१०६।६)

अंकुश के द्वारा तरण योग्य दो हाथियों के समान विक्रम प्रकाश करने वाला शत्रुओं का नाशक अर्थात् युद्ध में शत्रुवधकारी दो हाथियों के समान त्वरायुक्त, शत्रुओं का नाश कर दक्षतावश शोभायमान होता है एवं चातक के समान जल प्राप्त कर आनन्दित होता है। ऐसे भक्त के प्रति प्रसन्न अश्विनी कुमार हमारे इस जरामरणशील शरीर को अजर अमर करें। भूतांश नामक मुनि ने इस मन्त्र के द्वारा दो अश्विनी कुमारों की स्तुति की है, सायणाचार्य ने संक्षेप में कहा है—शृण्येव=अंकुश, योग्य मदमत्त हाथी के समान, तुर्फरी=शत्रुओं का नाशक, नैतोश का वध करने वाले के समान, तुर्फरी=मारने वाला पर्फरीका=शत्रुओं का छेदन करने वाला (विनष्ट करने वाला), उदन्यजेव=जलोत्पन्न (प्राणी के समान निर्मल कान्तियुक्त, जेमना=जयशील, मदेरू=बलातिशय से मत्त, ता=दोनों अश्विन कुमार, मे=मुझे, जरायु=वृद्धावस्था पर्यन्त अत एव, मरायु=मरणशील शरीर को, अजरं=जरा रहित करें।

'सतः परमविज्ञानम्' (जै० १।१।४९) इति ।

विद्यमान एवं अर्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते; तेषां निगम—निरुक्त—व्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पयितव्यः । पद् यथा—'जर्भरी तुर्फरीतू' इत्येवमादीनि अश्विनोरभिधानानिः तेषु हि द्विवचनान्तत्वं लक्ष्यते । आश्विनं चेदं सूक्तम् 'अश्विनोः काममप्राः' (ऋ० सं० १०।१०।६।११) इति दर्शनात् । एतदेव अभिप्रेत्य निरुक्तकारो

अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति ।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि ॥
(ऋ० १।१६९।३)

हे इन्द्र ! सूखे हुए तृण पुञ्ज में प्रदीप्त अग्नि जिस प्रकार शोभायमान होती है उसी तरह तुम्हारा नित्य साथ में रहने वाला यह वज्र भी शोभायमान होता है । यह तुम्हारा अत्यन्त प्रिय है । आपका यह वज्र आपके अनुग्रह से हम लोगों का उपकारक है और यह आकाश में चिर संचित जल को वृष्टि रूप में प्रदान करता है । जैसे जल द्वीप को धारण करता है, वैसे ही यह हम लोगों के लिये अन्न आदि को धारण करता है । तुम्हारा वह प्रिय मित्र मरुत अर्थात् पर्जन्य भी हम लोगों का उपकारक है । इस मंत्र के द्वारा इन्द्र की स्तुति की गई है ।

अम्यक्=सहचारी, सा=वह प्रसिद्ध, ते=तुम्हारा, इन्द्र=हे इन्द्र, ऋष्टिः=अस्त्र विशेष या वज्र, अस्मिन्=हम लोगों का, सनेमि=संचित, अभ्वम्=जल, मरुतः=इन्द्र का वाहन पर्जन्य, जुनन्ति=निक्षेप करता है या वर्णन करता है; अग्निचित्=अग्नि के समान, हिस्म=पाद पूरक अव्यय, अतसे=शुष्क तृण में, शुशुक्वान=दीप्यमान, आपः=जल, द्वीपं=द्वीप को, दधति=धारण करता है, प्रयांसि=अन्न ।

अर्थ—शङ्कापक्ष के अनुसार 'अम्यक् सा इन्द्र' सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ जानना असम्भव होने से उनमें अर्थ है ही नहीं, इसका उत्तर देते हैं —

व्याचष्टे 'जर्भरी भत्तारौ इत्यर्थः' 'तूर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः' (नि० १३।५) इति। एवम् 'अम्यक्सा ते' इत्यादावपि उन्नेयम्।

'अर्थ विद्यमान है परन्तु अज्ञात है।' मन्त्रों में अर्थ है, परन्तु प्रमाद और आलस्य के कारण ज्ञात नहीं होता है। निघण्टु, निरुक्त और व्याकरण की सहायता से धातुओं से ऐसे मन्त्रों का अर्थज्ञान कर लेना चाहिये। यथा—'जर्भरी तुर्फरीतू' इत्यादि अश्विनो के विशेषण हैं क्योंकि ये शब्द द्विवचनान्त हैं। अश्विनोः कामप्रभाः' शब्दों के दिखाई पड़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सूक्त अश्विनों का है। इसी बात को ध्यान में रखकर निरुक्तकार यास्क इन शब्दों की व्याख्या करते हैं--जर्भरी अर्थात् भरण करने वाले, तुर्फरी अर्थात् हनन करने वाले। इसी प्रकार 'अभ्यक् सा ते' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ समझना चाहिये।

सतः परमविज्ञानम् (जै० १।२।४९)--

शारदी--पूर्वपक्षियों ने कहा--मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं हैं। इसके संबन्ध में 'अनित्य संयोगात्' इस सूक्त की व्याख्या करते ए लिखा है कि मन्त्रों में यदि स्वार्थ की विवक्षा की जाय तो कीट ना जनपद, नैचाशाख नामक नगर एवं जन्ममरण शील प्रमगन्द नामक राजा को अर्थ का वाचक मानने पर वेद मन्त्र पौरुषेय एवं अप्रामाणिक होगा, परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जन्म मरणशील अनित्य वस्तु का निर्देश वेद के मन्त्रों में नहीं किया गया है। इसका विश्लेषण मैंने 'परन्तु श्रुति सामान्यमात्रम्' (१।१।३१) सूत्र की व्याख्या में प्रस्तुत किया है। उस प्रसंग में कहा है कि 'बबरः प्रावाहणिः' इत्यादि वेद वाक्यों के द्वारा जिस अर्थ की अवगति उन लोगों ने की है, वह समीचीन नहीं है। उन्होंने प्रावहणिः का अर्थ समझा था प्रवहण का अपत्य, किन्तु बबरः प्रावहणिः का अर्थ होता है प्रकृति रूप से वहनशील। वायु पद का साम्य अर्थसाम्य के लिए सर्वथा निश्चित कारण नहीं है। वेद में जिस प्रकार कहा गया है; उस रूप की घटना बाद में हुई होगी यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि आज भी ऐसी अनेक घटनाएँ होती हैं जो किसी की उक्ति या भविष्यत्

यदप्युक्तम्, प्रमगन्दाद्य (ऋ० ३।५३।१४) नित्यार्थसंयोगात् मन्त्रस्य अनादित्वं न स्याद् इति, तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'उक्तश्च अनित्यसंयोगः' (जै० १।२।५०) इति।

प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे सोऽयमनित्यसंयोगदोष उक्तः तथा हि--तत्र पूर्वपक्षे वेदानां पौरुषेयत्वं वक्तुं काठकं कालापकमित्यादि पुरुषसम्बन्धाभिधानं हेतूकृत्य--

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० सू० १।१।२८) इति हेत्वन्तरं सूत्रितम्।

तस्यायमर्थः--'बबरः प्रवाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इति अनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनाद् ततः पूर्वम् असत्त्वात् पौरुषेयो वेद इति, तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्—'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'

वाणी के अनुरूप हो जाती है। आचार्य कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में कीकट का अर्थ कृपण, कुसीद वृत्ति में व्याज खाना किया है। इसी प्रकार सबका भिन्न-भिन्न अर्थ प्रदर्शित है। इन शब्दों के प्रयोग होने पर भी जननमरणशील वस्तु का प्रयोग वेद में नहीं है। इसलिये यह कहना कि वेद का मन्त्र अप्रामाणिक हैं उचित नहीं है।

अर्थ—उक्तश्च अनित्य संयोगः (जै० १।२।५०)—प्रमगन्दादि में जन्म मरणशील अनित्य अर्थ का संयोग होने से मन्त्र अनादि नहीं हो सकते हैं, इसके समाधान में जैमिनि ने कहा है "उक्तश्च अनित्यसंयोगः" (१।२।५०) प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में इस अनित्य संयोग रूपी दोष का परिहार किया गया है, उस प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में वेद की पौरुषेयता कहने के लिये काठक, कलापक, कालापक आदि पुरुष सम्बन्धों के कथन को साधन के रूप में उपस्थित कर 'अनित्यदर्शनाच्च' इस साधनान्तर की सूचना दी है।

आशय यह है कि "बबरः प्रावाहणिरकामयत" (तै० सं० ७।१।१०।२)। वैदिक वचनों से बबर आदि के देखने से बबर की उत्पत्ति के बाद ही वेद की रचना शुरू हुई है यह मानना पड़ेगा अर्थात् इसके पूर्व में वेद नहीं था, अतः वेद पौरुषेय है। इसके उत्तर में सूत्रकार ने कहा है "परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (१।१।३१)। आशय यह है कि काठकादि

(जै० सू० १।१।३१) इति। तस्यायमर्थः--यत् काठकादिसमाख्यानं तत् प्रवचननिमित्तम्। यत्तु परं बबराद्यनित्यदर्शनं तत् शब्दसामान्यं न तु तत्र अनित्यो बबराख्यः कश्चित् पुरुषो विवक्षितः, किन्तु बबरः इति शब्दानुकृतिः। तथा सति बबर इति शब्दं कुर्व्वन् वायुरभिधीयते; स च प्रावाहणिः प्रकर्षेण वहनशीलः। एवमन्यत्रापि ऊहनीयम्। तदेवं कस्यचिदपि दोषस्य असम्भवाद् विवक्षितार्था स्वार्थप्रकाशनायैव प्रयोक्तव्याः।

का कथन प्रवचन के कारण किया गया है। पूर्व मेंजो यह कहा गया था कि बबर आदि अनित्य का कथन है, उस प्रसंग में यह कहना है कि बबर यह शब्द सामान्य मात्र है। इसका उल्लेख आगे किया गया है। इसके द्वारा बबर नामक कोई पुरुष नहीं कहा गया है, किन्तु बबर यह शब्द का अनुकरण मात्र है। बबर यह शब्द करने वाले वायु के द्वारा इसका अभिधान किया गया है और वह प्रावहणिः अर्थात् बहुत तेजी से बहने वाला है। इसी प्रकार अन्यत्र भी तर्क के अनुसार समन्वय करना चाहिये। इस प्रकार किसी दोष की सम्भावना होने के कारण मन्त्र के अर्थ की विवक्षा है। अपने अर्थ के प्रकाशन के लिये ही इसका प्रयोग करना चाहिये।

शारदी :-आशय यह है कि मन्त्रों का अपना अर्थ विवक्षित नहीं है। इसके प्रतिपादन के लिये आचार्य जैमिनि ने 'अनित्यसंयोगात्' इस सूत्र के अन्त में "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः" इत्यादि मन्त्रो का दृष्टान्त रूप में कहकर आपत्ति की है कि मन्त्रों का अपना अर्थ विवक्षित मानने पर कीकट नामक जनपद, नैचाशाख नामक नगर और प्रमगन्द नामक राजा आदि अनेक जन्म मरण शील अर्थ का वाचक शब्दों का प्रयोग होने से मन्त्र अनित्य एवं अपौरुषेय तथा अप्रामाणिक हो जायेंगे, किन्तु यह कथन समीचीन नहीं है, कारण इन मन्त्रों में जन्म मरणशील अनित्य वस्तु का विषय नहीं कहा गया है। इसका विवेचन 'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इस सूत्र में किया गया है। वेद में जिस प्रकार कहा गया है तदनुरूप घटना हुई थी यह मानना भी कोई असम्भव बात नहीं है, क्योंकि आज भी ऐसी अनेक घटनाओं को देखने

ननु अर्थप्रकाशनार्थत्वे सति दृष्टं प्रयोजनं लभ्यते इति युक्तिमात्रम् इदमुच्यते। न तु एतदुपोद्बलकं किञ्चिच्छ्रौतं लिङ्गं पश्यामः इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत्' (जै० १।२।५१) इति।

'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' इति श्रूयते। तस्यायमर्थः—अग्निर्देवता यस्या ऋचः सेयम् आग्नेयी, तया आग्नीध्रस्थानम् उपतिष्ठेत इति। अत्र हि उपस्थानमुपदिशद् ब्राह्मणम् 'आग्ने नय' (ऋ० सं० १।१८९।१) इत्यनया 'उपतिष्ठेत' इति मन्त्रप्रतीकं पठित्वा नोपदिशति, किन्तु

का अवसर मिलता है। इनके विषय में किसी की उक्ति या भविष्यवाणी रहती है। तन्त्रवार्तिक में कीकट का अर्थ कृपण, प्रमगन्द का अर्थ कुसीद वृत्ति किया है। अतः इन अर्थों का जननमरणशील व्यक्ति से संबंध नहीं है इसलिये जननमरणशील अर्थ का निर्देश न होने से मन्त्र का अपना अर्थ विवक्षित है।

लिंगोपदेशश्च तदर्थवत् (जै० १।२।५१)—मन्त्रों को अर्थ—प्रकाशक मानने पर दृष्ट प्रयोजन की उपलब्धि होती है यह कथन युक्ति मात्र से समर्थित है। इस कथन का समर्थक कोई वैदिक कारण उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस आशंका से सूत्रकार ने कहा है 'लिंगोपदेशश्च तदर्थवत्' (१। २।५१)। लिंग के द्वारा अर्थात् अर्थ के ज्ञापक हेतु के द्वारा उपदेश अर्थात् विधि कही गई है, च शब्द हेत्वर्थक है। क्योंकि मन्त्र वाक्य सार्थक या विवक्षितार्थक है, क्योंकि श्रुतियों में मन्त्र के लिंग अर्थात् अर्थज्ञापक हेतुओं से कर्म की विधियाँ कही गई हैं इसलिये मंत्रवाक्य अर्थवान् हैं अर्थात् अनर्थक नही है, किन्तु सार्थक या व्यवहितार्थक है, जैसे 'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते" अग्नि देवता है जिस ऋचा की वह आग्नेयी ऋचा कहलाती है। उस आग्नेयी ऋचा से अग्नीध्र का जो स्थान है उस स्थान से अग्नीध्र की पूजा या संस्कार करें। इस प्रकार की एक विधि है। इस स्थल में उपस्थान का उपदेश करता हुआ ब्राह्मण वाक्य 'अग्ने नय' (ऋ० १।१८९।१) हैं। इस मंत्र के द्वारा उपस्थान करें यह कहा गया है। जिस मन्त्र में अग्नि के विषय

आग्नेयीत्वलिङ्गेन उपदिशति । यदा यस्यामृचि अग्निः प्राधान्येन प्रतिपाद्यते तदा तस्या ऋचोऽग्निर्देवता भवति । तथा सति आग्नेय्या इति देवतावाचितद्धितान्तनिर्देश उपपद्यते । तस्मादयमुपदेशस्तन्मन्त्रवाक्यार्थवदिति बोधयति । अतो विवक्षितार्थत्वाद् अर्थप्रत्ययानार्थं प्रयोगकाले मन्त्रोच्चारणम् ।

तस्मिन् एव विवक्षितार्थत्वे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—

'ऊहः' (जै० १।२।५२) इति ।

प्रकृतावाम्नातस्य मन्त्रस्य विकृतौ समवेतार्थत्वाय तदुचितपदान्तस्य प्रक्षेपेण पाठः ऊहः । तद् यथाः—'अन्वेनं माता मन्यतामनु पितानु भ्राता' (तै० ब्रा० ३।६।६१) इति प्राकृतः पशुविषयो मन्त्रपाठः (मै० सं० ४।१३।४) । तस्य च मन्त्रस्य विकृतौ पशुद्वये सति 'अन्वेनौ माता

में प्रधान रूप से वर्णन प्राप्त होता है, वही ऋचा अग्निदेवताक् या आग्नेयी ऋचा है । मन्त्र का अर्थ यदि लक्षित न होता तब इसके द्वारा अग्नि के विषय में ही इसका वर्णन प्रधान रूप से किया गया है, यह कैसे अवगत से होता ? आग्नेयी, यह शब्द देवता वाची तद्धितान्त अर्थात् ढक् प्रत्यय उत्पन्न होता है । अतः यह उपदेश ही मंत्र वाक्यों के अर्थवान् होने का बोधक है, इसलिये मन्त्र विवक्षित अर्थ का वाचक होने से, अर्थ बोध कराने के लिये प्रयोग के समय में मन्त्र का उच्चारण किया जाता है, फलतः मन्त्र विवक्षितार्थक है । इसका लिङ्ग या ज्ञापक 'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते' इत्यादि वाक्य ही है ।

इस तरह मन्त्रों के अर्थ विवक्षित हैं इसका प्रतिपादन करने के बाद पुनः इसी विषय के समर्थन के लिए अन्य लिङ्ग या ज्ञापक का निर्देश 'ऊहः' (१।२।५२)। इस मंत्र से किया जा रहा ।

ऊह अर्थात् पदों का अध्याहार मंत्रों के विवक्षितार्थक होने का ज्ञापक है । प्रकृतिभूत कर्म में जो मंत्र पढ़े जाते हैं विकृतिभूत कर्म में उस अर्थ को समन्वित करने के लिए समुचित पदान्तर का प्रक्षेप कर पाठ करना ही 'ऊह' है अर्थात् प्रकृतिभूत अर्थ में जो मंत्र पढ़े जाते हैं विकृतिभूत कर्म के स्थल-विशेष में उन मन्त्रों के पद, विभक्ति और वचन का परिवर्तन करके पाठ करने पर वे मन्त्र

मन्यताम्' इत्यूहः। पशुबहुत्वे सति 'अन्वेनान् माता मन्यताम्' इत्यूहः कर्त्तव्यः। एतन्मन्त्रव्याख्यानरूपं ब्राह्मणमेवमाम्नायते—'न माता वर्द्धते न पिता' इति। तत्रेदं चिन्तनीयम्, किमत्र शरीरवृद्धिर्निषिध्यते, आहोस्विच्छब्दवृद्धिरिति। एकवचनान्तस्य मातृशब्दस्य मातराविति द्विवचनान्तत्वेन वा, मातरः इति बहुवचनान्तत्वेन वा प्रयोगः शब्द-वृद्धिः। तत्र न तावच्छरीरवृद्धिनिषेद्धुं शक्यते, बाल्यकौमार्ययौवना-दिवयोऽनुसारेण तद्वृद्धेः प्रत्यक्षत्वात्। अतः शब्दवृद्धिनिषेद्धुमेव परिशिष्यते। मातृशब्दपितृशब्दयोर्विशेषाकारेण वृद्धिनिषेधात् इतरस्य

विरुद्धार्थक हो जायेंगे, जैसे प्रकृतिभूत एक पशु से सम्पादन योग्य निष्पाद्य यज्ञ में पशु के संस्कार के समय "अन्वेनं माता मन्यामनुपितानुभ्राता" (मैं० सं० ४।१३।४) अर्थात् इसकी माता इसको अनुमति दे, इसके पिता एवं भ्राता अनुमति दें। इस प्राकृत पशुविषयक मन्त्र का विकृतिभूत दो पशु से साध्य यज्ञ में इस मन्त्र को एनं की जगह एनौ करके "अन्वेनौ माता मन्यताम्" इस प्रकार ऊह अर्थात् परिवर्तन कर पाठ किया जाता है। इसी प्रकार अनेक पशु साध्य यज्ञ में "अन्वेनान् माता मन्यताम्" इस रूप में परिवर्तन करना चाहिये। इस मन्त्र को व्याख्यान रूप ब्राह्मण में इस प्रकार कहा गया है 'न माता वर्धते न पिता' यहाँ यह विचारणीय है कि क्या इसके द्वारा शरीर की वृद्धि का निषेध किया जाता है अथ वा शब्द की वृद्धि का। एकवचनान्त मातृ शब्द का मातरौ इस द्विवचनान्त शब्द के रूप में यह शब्द वृद्धि है। शरीर की वृद्धि का निषेध तो संभव ही नहीं क्योंकि बाल्य, कौमार्य और युवावस्था के अनुसार शरीर की वृद्धि प्रत्यक्ष है, अतः शब्द की वृद्धि का निषेध ही बच जाता है। मातृ शब्द और पितृ शब्द की विशेष रूप से वृद्धि का निषेध होने से अर्थात् ब्राह्मण वाक्य के द्वारा माता-पिता आदि पद वृद्धि अर्थात् द्विवचन एवं बहुबचन रूप वृद्धि के निषेध होने से अन्त में एनं इस पद की अर्थ के अनुसार वृद्धि सूचित होती है। यदि मन्त्रों का अर्थ विवक्षित नहीं होता तब एनं में ऊह अर्थात् परिवर्तन करने का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता; किन्तु मन्त्रों का अर्थ विवक्षित है; इसलिये विकृति स्थल में ऊह न करने पर मंत्र विरुद्ध अर्थ अथवा असमवेत अर्थ का वाचक होने

एनमिति शब्दस्य अर्थानुसारिणी वृद्धिः सूचिता भवति। तत्र यद्यर्थो न विवक्ष्येत तथा पशुद्वित्वे द्विवचनं पशुबहुत्वे बहुवचनं च कथमूह्येत ? तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्राः।

तस्मिन् एव अर्थे लिङ्गान्तरं सूत्रयति—
'विधिशब्दाश्च' (जै० १।२।५३) इति।

मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दः इति उच्यते। स चैवमाम्नायते—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्याः स्म इत्येव एतदाह' (श० ब्रा० २।३।४।२१) इति। तत्र 'शतं हिमा' इत्येत द्व्याख्येयमन्त्रस्य प्रतीकम्, अवशिष्टं तु तस्य तात्पर्यव्याख्यानम्। मन्त्रस्य अविवक्षितार्थत्वे तु किं नाम तात्पर्य्यं मन्त्रे व्याख्यायेत। तस्माद् विवक्षितार्था मन्त्रा प्रयोगकाले स्वार्थप्रकाशनायैव उच्चारयितव्याः।

से विकृति में मन्त्र का दो पशु रहने पर और अनेक पशु रहने पर ऊह किया जाता है। फलतः परिवर्तन करने से ही मंत्र क्रिया-समवेत अर्थ का प्रकाशक होता है। यदि अर्थ विवक्षित न होता तो दो पशु रहने पर द्विवचन, अनेक पशु रहने पर बहुवचन कैसे होता, इसलिये मन्त्र का अर्थ विवक्षित है।

इसी अर्थ में अन्य साधन की दृष्टि से सूत्र दे रहे हैं—विधिशब्दाश्च। (जै० १।२।५३)।

मन्त्र का व्याख्यान रूप ब्राह्मण में आया हुआ शब्द विधि शब्द के द्वारा कहा जाता है। वह इस प्रकार कहा गया है 'शतं हिमा शतं वर्षाणि जीव्यास्म इति (श० ब्रा० २।३।४।२१) इसमें 'शतं हिमा' यह व्याख्येय मन्त्र का प्रतीक है और अवशिष्ट अंश उस वाक्य का तात्पर्य कथन है। यदि मन्त्र अविवक्षितार्थक माना जाय तब ब्राह्मण के द्वारा उसके तात्पर्य का कथन कैसे सम्भव है ? अर्थात् कौन सा तात्पर्य वहाँ पर माना जायेगा ? इसलिए मन्त्र का अर्थ विवक्षित है और प्रयोग के समय अपने अर्थ के प्रकाशन के लिए ही उसका उच्चारण करना चाहियें।

तत्र संग्रहश्लोकौ—

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः ।
यागेषूत पुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः ॥
ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्रा पुण्यैकहेतवः ।
न, तद्भानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टतः ॥

(जै० न्या० १।३-४) इति ।

ब्राह्मणभागस्य प्रामाण्यनिरूपणम्—

ननु अस्तु मन्त्रभागस्य प्रामाण्यम्, ब्राह्मणभागस्य तु न तद् युज्यते । तथा हि, द्विविधं ब्राह्मणम्—विधिरर्थवादश्चेति । तथा च आपस्तम्बः—'कर्म्मचोदना ब्राह्मणानि, ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आप०

शारदी—मन्त्र के विवक्षार्थक होने में अन्य हेतु का प्रदर्शन करते हुए जैमिनि ने लिखा है—

"विधिशब्दाश्च" (१।२।५३)=—विधिशब्दाः=विधि का अर्थात् मन्त्रार्थ का व्याख्यान रूप शब्द, च=एवं है । ब्राह्मण वाक्य में मन्त्र की व्याख्या है, इसलिये भी मन्त्र को विवक्षितार्थक मानना होगा । मन्त्र व्याख्यान रूप ब्राह्मण का शब्द, अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ में स्थित शब्द, विधिशब्द कहा जाता है, जैसे "शतं हिमा शतं वर्षाणि जीव्यास्म इत्येव एतदाह" (श० ब्रा० २।२।४।२१) । इस स्थल में शतं हिमा यह व्याख्येय मन्त्र का प्रतीक है और अवशिष्ट उसका तात्पर्यार्थ है । इस मन्त्र का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है 'शतं वर्षाणि' । यदि मन्त्र अविवक्षितार्थक होता तब इस के तात्पर्य की व्याख्या मन्त्र में हो रही है इसकी सूचना नहीं होती । अतः यह मानना होगा कि विवक्षितार्थक मन्त्र का प्रयोग के समय उच्चारण करना चाहिये । इन सभी ज्ञापक अर्थात् स्पष्ट लिंगों के रहने पर यह अवश्य मानना चाहिये कि मन्त्र का अर्थ विवक्षित है ।

इसी अंश को जैमिनिन्यायमाला में श्लोकों से कहा गया है कि याग में 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्र क्या सिर्फ अदृष्ट की सिद्धि के लिए ही है; अथ वा पुरोडाश के प्रथन का भी ज्ञापक है । ब्राह्मण ग्रंथों में ही उसकी अवगति हो रही है, अतः मन्त्र मात्र अदृष्टार्थक ही है, यह कथन वस्तुतः ठीक नहीं है, क्योंकि उसके अर्थ की अवगति देखने से अदृष्टार्थक न मानकर दृष्टार्थक मानना ही उचित है ।

परि० ३४-३५)। विधिरपि द्विविधः, अप्रवृत्तप्रवर्त्तनम् अज्ञातार्थज्ञापनञ्चेति। 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्याद्याः कर्मकाण्डगतविधयोऽप्रवृत्तप्रवर्त्तकाः। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद्–(ऐ० आ० २।४।१) इत्यादयो ब्रह्मकाण्डगता अज्ञातज्ञापकाः। तत्र कर्म्मकाण्डगतानां जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा' (तै० सं० ५।४।३।२) इत्यादिविधानां नास्ति प्रामाण्यम्; प्रवृत्त्ययोग्यद्रव्यविधानेन सम्यगनुभवसाधनत्वाभावात्। अयोग्यत्वं च वाक्यशेषे समाम्नातम्--'अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च' (तै० सं० ५।४।३।२) इति। तत्र हि आरण्यतिलानाम् आरण्यगोधूमानां च आहुतिद्रव्यत्वं निषिद्धम्। तस्माद् बाधितो जर्तिलादिविधिरप्रमाणम्। एवमैतरेयतैत्तिरीयादिब्राह्मणेषु, 'तत्तन्नादृत्यम्' (ऐ० ब्रा० २।२३), 'तत्तथा न कार्य्यम्' (तै० ब्रा० १।१।८६) इति

यह प्रश्न उठता है कि मन्त्र भाग का प्रामाण्य मान भी लिया जाय फिर भी ब्राह्मणभाग का प्रामाण्य मानना ठीक नहीं है। ब्राह्मण ग्रंथ दो प्रकार के हैं– विधि और अर्थवाद। कर्म की प्रेरणा अर्थात् कर्म विधि एक ब्राह्मण ग्रन्थ है और शेष ब्राह्मण ग्रंथ अर्थवाद है। विधि भी दो प्रकार की है एक अप्रवृत्त में प्रवर्तक और दूसरी अज्ञात अर्थ की ज्ञापक। 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयम्' (ऐ० ब्रा० १।१) इत्यादि कर्मकाण्ड की प्रवर्तक विधियाँ हैं। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद् (ए० उ० १।१) इत्यादि ब्रह्मकाण्ड के अन्तर्गत विधियाँ अज्ञात अर्थ की ज्ञापक है। किन्तु कर्मकाण्ड के अन्तर्गत (जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा जु यात् (तै० सं० ५।४।३।२) आदि विधियों का प्रामाण्य नहीं है। कारण, प्रवृत्ति के अनुपयुक्त द्रव्यों का विधान होने से समीचीन अनुभव की साधनता इनमें नहीं है। इसकी अयोग्यता या असमीचीनता अवशिष्ट वाक्य से प्रतिपादित की गई है—"अनाहुतिर्वा जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च" वन में उत्पन्न तिल और वन में उत्पन्न गोधूम की आहुति द्रव्यता निषिद्ध है। अतः, बाधित जर्त्तिलादि विधि अप्रामाणिक हैं। इसी प्रकार ऐतरेय एवं तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में "तत्तन्नादृत्यम्", "तत्तथा न

वाक्याभ्यां बहवो विधयो निषिद्धाः ।

अपि च ऐतरेयब्राह्मणेऽनुदितहोमं बहुधा निन्दित्वा--'तस्मादुदिते होतव्यम्' (ऐ० ब्रा० ५।३१) इति असकृद् निगदितम् । तैत्तिरीयाश्च तथैव आमनन्ति--यदनुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयात् उभयमेवाग्नेयं स्यादुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहोति (तै० ब्रा० २।१।२७) इति पुनरपि त एव उदितहोमे दोषमामनन्ति--यदुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयाद् यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्यायावसथायाहार्य्यं हरन्ति । तादृगेव तद्' (तै० ब्रा० २।१।२।१२) इति । तथैव 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति विधिः 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इति निषेधेन बाध्यते । ज्योतिष्टोमादिषु अपि अनुष्ठानानन्तरमेव स्वर्गादिफलं नोपलभ्यते । न हि भोजनानन्तरं तृप्तेरनुपलम्भोऽस्ति । तस्मात् कर्म्मविधिषु प्रामाण्यं दुःसम्पादम् ।

कार्यम्" (उनका उस रूप में आदर नहीं करना चाहिये, उनका उस रूप में सम्पादन नहीं करना चाहिये) आदि वाक्यों से अनेक विधियों का निषेध किया गया है और भी (इस प्रकार के वचन उपलब्ध हैं) अनुदित होम की अनेक प्रकार से निन्दा कर इसलिये उदित होने पर होम करना चाहिये आदि बहुधा कहा कहा गया है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार कहा गया है कि प्रातः सूर्य के उदय के बाद हवन करना चाहिए एवं सूर्य के उदय न होने से पूर्व प्रातः हवन करना चाहिए—ये दोनों आग्नेय है । उसी ब्राह्मण में पुनः उदित होम में दोष दिखाया गया है । "यदुदिते सूर्य्ये प्रातर्जुहुयाद् यथा अतिथये प्रद्रुताय शून्याया-वसथायाहार्य्यं हरन्ति तादृगेव तद्" (तै० ब्रा० २।१।२७) ।

इसी प्रकार "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" यह विधि "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इस निषेध विधि से बाधित है । ज्योतिष्टोम आदि में भी ज्योतिष्टोम अनुष्ठान के बाद ही स्वर्ग आदि की प्राप्ति नहीं होती है (किन्तु भोजन से सद्यः तृप्ति होती है) भोजन के बाद तृप्ति की अनुपलब्धि नहीं होती है । अतः, कर्म विधियों का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता है ।

'अज्ञातज्ञापकेषु ब्रह्मविधिष्वपि परस्परविरोधात् नास्ति प्रामाण्यम् 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद् इति ऐतरेयिण आमनन्ति (ऐ० उ० १।१)। 'असद् वा इदमग्र आसीद्' (तै० आ० ८।७) इति तैत्तिरीयाः। सोऽयं विरोधः। तस्माद् वेदे विधिभागः सर्व्वोऽप्यप्रमाणमिति प्राप्ते ब्रूमः—

अस्तु एवं जर्त्तिलादिविधेरप्रामाण्यम्, तदर्थस्य अननुष्ठेयत्वात्। अनुष्ठेयस्तु अर्थ उपरितने अजाक्षीरेण जुहोति' (तै० सं० ५।४३।२) इति वाक्ये विधीयते। तत्प्रशंसार्थमत्र जर्त्तिलादिकमनूद्य निन्द्यते। यथा गवामश्वानां च प्रशंसार्थम् 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।९।४) इति वाक्येन अर्थवादरूपेण अजादीनां पशुत्वं निन्द्यते, तद्वत्। एवं तर्हि अजादेर्यथा वस्तुतः पशुत्वमस्ति तथा जर्त्तिलादिविधिरत्र निन्द्यमानोऽपि क्वचिच्छाखान्तरे भवेदिति चेत्? भवतु नाम, प्रामाण्यमपि तच्छाखाध्यायिनं प्रति भविष्यति। यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्नभोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकं तद्वत्।

इसी प्रकार अज्ञातज्ञापक ब्रह्मविधियों में भी परस्पर विरोध होने से उनका भी प्रामाण्य नहीं है। "आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीद्" (पूर्व में एक आत्मा ही था) ऐतरेय उपनिषद् में यह कहा गया है एवं तैत्तिरीय उपनिषद् के "असद् वा इदमग्र आसीद्" (पूर्व में असद् था) इन दोनों वचनों में विरोध है अतः वेद में सभी विधि वचन अप्रामाणिक हैं। ऐसी स्थिति में कहा है—

जर्त्तिल से बोधित अर्थ अनुष्ठान के योग्य न होने से जर्त्तिल विधि का अप्रामाण्य है अर्थात् ये विधियाँ अप्रामाणिक हैं। इससे पूर्व के वाक्य "अजाक्षीरेण जुहोति" (तै० सं० ५।४।३।२) का अर्थ अनुष्ठेय वाक्य की प्रशंसा के लिये जर्त्तिल आदि का अनुवाद कर निन्दा की गई है जैसे गौ अश्वों की प्रशंसा के लिये गौ और अश्व से अन्य सभी अपगौ हैं, इस वाक्य से अर्थवाद के रूप से अजा आदि पशुओं की निन्दा की गई है, वैसे ही (ये वाक्य हैं)। ऐसा मानने पर जैसे अजा आदि वस्तुतः पशु हैं वैसे ही जर्त्तिल आदि विधियाँ निन्द्य होती हुई भी अन्य शाखा में (गृहीत) होंगी, हो सकती है, उस शाखा के अध्ययन करने वालों के लिए इसका प्रामाण्य भी होगा। जैसे गृहस्थ

अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ। यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थितस्तद्वत्। तैत्तिरीयाः 'वायवः स्थोपायवः स्थ' (तै० सं० १।१।१) इति मन्त्रमामनन्ति। वाजसनेयिनस्तु 'उपायवः स्थ' इत्येतं भागं नामनन्ति (वा० सं० १।१)। प्रत्युत शतपथब्राह्मणे स भागोऽनूद्य निराकृतः (श० ब्रा० १।७।१।३)।

तथा सूक्तवाकमन्त्रे शाखान्तरपाठं निराकृत्य पाठान्तरं तैत्तिरीयाः आमनन्ति–'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यात् (तै० सं० २।६।९।६) इति निराकरणम्। 'सूपचरणा च स्वधिचरणा चेत्येव ब्रूयाद्' इति पाठान्तरोपदेशः। तत्र अनुष्ठातृपुरुषभेदेन व्यवस्था। तद्वत् विधिषु द्रष्टव्यम्, षोडशिग्रहणादिदूषणं तु अश्रुतमीमांसावृत्तान्तस्य तवैव शोभते। पूर्वमीमांसायां दशमाध्यायस्य अष्टमपादे षोडशिनो

आश्रम में अन्य के अन्न का भोजन करना निषिद्ध होने पर भी अन्य आश्रमों में अन्य का भोजन प्रामाणिक है उसी तरह एक शाखा में अप्रामाणिक होने पर भी अन्य शाखाओं में उसका प्रामाण्य हो सकता है। पूर्वोक्त विश्लेषण से परस्पर विरुद्ध विधि और निषेध की पुरुषों के भेद से व्यवस्था करनी चाहिये जैसे मन्त्रों के पाठ भेद की शाखा के भेद से व्यवस्था की जाती है--वैसे ही। जैसे तैत्तिरीयशाखा वाले "वायवःस्थोपायवःस्थ" इस मंत्र को कहते हैं। वाजसनेयी शाखा वाले 'उपायवःस्थ' इस भाग को नहीं कहते हैं, इतना ही नहीं शतपथ ब्राह्मण में उस भाग का अनुवाद कर उसका निराकरण किया गया है।

उसी तरह सूक्त वाकमन्त्र में अन्य शाखा के पाठ का निराकरण कर तैत्तिरीयों ने अन्य पाठ को स्वीकृत किया है। "यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना चेति प्रमायुको यजमानः स्यादिति" इससे इसका निराकरण किया गया है और "सूपचरणा च स्वधिचरणा च" इस रूप में अन्य पाठ का उपदेश किया गया है (तै०सं० २।६।९।६) अनुष्ठान करने वाले पुरुषों के भेद से इन दोनों वचनों की व्यवस्था की गई है, उसी तरह अन्य विधियों में भी व्यवस्था करनी चाहिये। षोडशी के ग्रहण का दूषण वही दे सकता है, जिसने मीमांसा के विषय को नहीं समझा है, अर्थात् षोडशी ग्रहण में विरोध का दोषोद्भावन अश्रुत

ग्रहणाग्रहणविकल्पो निर्णीतः (जै सू० १०।८।६)। द्वितीयस्य अध्यायस्य प्रथमपादे कालान्तरभाविफलसिद्ध्यर्थमपूर्वं निर्णीतम् (जै० सू० २।१।५) । तद्वत् उत्तरमीमांसायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थे पादे, 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' (ब्र० सू० १।४।१४) इत्यस्मिन् सूत्रे जगत्कारणे परमात्मनि श्रुतिविप्रतिपत्तिर्निराकृता । द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमे पादे आरम्भणाधिकरणे तु 'असद्व्यपदेशान्नेति चेत्, न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्' (ब्र० ० २।१।१७) इति सूत्रे तैत्तिरीयवाक्यगतस्य असच्छब्दस्य न शून्यपरत्वं किन्तु अव्यक्तावस्थापरत्वमिति निर्णीतम् । तथा जैमिनिश्चोदनासूत्रे (जै० १।१।२) विधिवाक्यं प्रमाणमिति परिज्ञाय औत्पत्तिकसूत्रे (जै० १।१।५) तत्प्रामाण्यं समर्थयामास । व्यासोऽपि 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३।) इति सूत्रे वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यं प्रतिज्ञाय, 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यादिसूत्रैः समर्थयामास । तस्माद्

मीमांसा सिद्धान्त आप के लिये ही शोभायमान है। पूर्वमीमांसा के दशम अध्याय के आठवें पाद में षोडशी के ग्रहण और अग्रहण के विकल्प का निर्णय किया गया है। द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में अन्य समय में होने वाले फल की सिद्धि के लिये अपूर्व का निर्णय किया गया है अर्थात् अनुष्ठान और फल के मध्य में अपूर्व को माना है। इसी प्रकार उत्तर मीमांसा में प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में ''कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः (ब्र० सू० १।४।१४) इस सूत्र में जगत् के कारण परमात्मा में वेद वचनों के विरोध का निराकरण किया गया है, द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद के आरम्भाधिकरण में "असद्व्यपदेशान्नेति च्रेत्, न, धर्मान्तिरेण वाक्यशेषात्" (ब्र० सू० २।१।११) सूत्र में तैत्तिरीय वाक्य से प्रयुक्त 'असत्' शब्द शून्य अर्थ का बोधक नहीं, है; अपितु अव्यक्त अवस्था का बोधक है—यह निर्णय किया है। जैसा जैमिनि ने चोदना लक्षणोऽर्थः धर्म (जै० १।१।२) सूत्र में विधि वाक्य धर्म में प्रमाण है—यह प्रतिज्ञा कर औत्पत्तिक सूत्र में (१।१।५) उसके प्रामाण्य का समर्थन किया है। व्यास ने भी शास्त्रयोनित्वात् (ब्र० सू० १।१।३) इस सूत्र में वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में प्रामाण्य की प्रतिज्ञा कर "तत्तु समन्वयात्" (ब्र० सू० १।१।३) इत्यादि

अमीमांसकस्य तव पूर्वोक्तस्थाण्वन्धन्यायो दुष्परिहरः। अतो विधिभागस्य प्रामाण्यं सुस्थितम्।

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यम्—

अर्थवादभागस्य प्रामाण्यं महता प्रयत्नेन जैमिनिः समर्थयामास। तत्सूत्राणि व्याख्यास्यन्ते (जै० सू० १।२।१-१८) तत्र पूर्वपक्षं सूत्रयति-

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते' (जै० १।२।३)इति। आम्नायस्य सर्व्वस्य क्रियाप्रतिपादनाय प्रवृत्तत्वात् अक्रियाप्रतिपादकानाम् अर्थवादानां नास्ति कश्चिद् निवक्षितः स्वार्थः। ते च अर्थवादा एवमाम्नायन्ते-'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) 'स आत्मनो वपामुदखिदत् (तै० सं० २।१।१।४), 'देवा वै देवजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' (तै० सं० ६।१।५।१) इति। यस्मादीदृशस्य वाक्यस्य विवक्षितोऽर्थः कश्चिदपि नास्ति तस्मादिदं वाक्यमनित्यमुच्यते। यद्यपि अनादित्वात् स्वरूपेण अनित्यत्वं नास्ति, तथापि धर्म्मावबोधनलक्षणस्य नित्यकार्य्यस्य अभावाद् अनित्यैः काव्यालापैः समानत्वादप्रमाणमित्यर्थः।

सूत्रों से इसका समर्थन किया है, अतः तुम्हारे जैसे अमीमांसक के लिए स्थाणवन्ध न्याय सर्वथा अपरिहार्य है। इसलिये विधिभाग का प्रामाण्य सुस्थित है।

अर्थवाद वाक्यों का प्रमाण्य समर्थन—

अर्थवाद भाग का प्रामाण्य जैमिनि ने अतिशय विचार पूर्वक १ अध्याय के २ पाद के १ से १८ सूत्रों से सम्पन्न किया है, उस विषय से सम्बद्ध सूत्रों की व्याख्या की जायेगी। इस विषय में पूर्वपक्ष के सूत्र हैं—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते (१।२।१)-

सभी वेद क्रिया के प्रतिपादन में प्रवृत्त है, अतः क्रिया के अप्रतिपादक होने वाले अर्थवाद वाक्यों का कोई अर्थ सिवक्षित नहीं है। वे अर्थवाद इस प्रकार के हैं—सोऽरोदीत् तद्रजतस्य "रजतत्वम्" (तै० सं० १।५।१) वे रोये थे इसलिये वही रजत का रजतत्व है। "प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्" (तै० सं० ३।१।१) प्रजापति ने अपनी वपा को (अपने हृदय से) बाहर किया। "देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानम्" (तै० सं० ६।१।५) देवताओं ने देवयजन (देवपूजा, यज्ञ) का आरम्भ कर दिशा के निर्णय में

समर्थ नहीं हुए, इत्यादि वेदवाक्य किसी प्रकार से भी क्रिया के प्रतिपादक नहीं हैं, अतः, इनको अनर्थक अर्थात् अप्रमाण मानना होगा। क्योंकि, इन वाक्यों का रुद्र ने रोदन किया है, अतः, तुम लोग भी रोदन करो अथवा प्रजापति ने अपनी वपा अर्थात् हृदय का भेदन किया था, अतः संसार के सभी वही करें। देवों का यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए दिङ्मोह हो गया था, अतः संसार में भी वैसा होना उचित है—इत्यादि अर्थ नहीं हो सकते हैं। अतः, इस तरह के वाक्य अनित्य हैं। यद्यपि वेद अनादि हैं, वेदान्तर्गत सभी वाक्यों की स्वरूपतः अनित्यता नहीं हो सकती है; तथापि ये वेद-वाक्य नित्य या सर्वकालीन धर्म और अधर्म के तत्त्वों का ज्ञापन नहीं करते हैं, अतः ये पुरुषार्थ के साधन नहीं हैं, इसलिये लौकिक काव्य के समान इन वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है।

शारदी—वेद में इष्ट फल के साधन के रूप में उपदिष्ट क्रिया ही धर्म है। अर्थात् वेदविहित याग, दान, होम आदि क्रिया ही धर्म है, कारण इसीके द्वारा पुरुष अभिलषित श्रेय का लाभ कर सकता है।

मन्त्र, नामधेय और अर्थवाद में अर्थवाद की आलोचना में मीमांसादर्शन का प्रथमाध्याय का प्रथमपाद परिसमाप्त हो जाता है एवं अर्थवाद वाक्यों की विधिजन्य प्रवृत्ति के विषय में विशेष रूप से अपेक्षा होने से इस पाद में उसी का विचार आवश्यक है।

"आम्नायस्य"=आम्नाय (वेद) के "क्रियार्थत्वात्" विधि और निषेध रूप क्रिया के प्रतिपादन साधन होने से 'तस्मात्" इसलिये आनर्थक्यम् वे अंश निष्प्रयोजन हैं अर्थात् पौरुषेय वाक्यों के समान ही वे वेदवाक्य निष्प्रयोजन हैं "उच्यते" (यह) कहा गया है, क्योंकि, क्रियात्मक यागादि रूप धर्म का प्रतिपादन करना ही वेद का प्रयोजन है, इसलिये, वेद जिन अंशों से क्रिया का प्रतिपादन नहीं कर रहा है, उन वेदांशों को अनर्थक अर्थात् प्रयोजनशून्य मानना पड़ेगा और इसी कारण से वे वेदांश अनित्य अर्थात् पौरुषेय वाक्यों अर्थात् अनित्य काव्यालापों के समान अप्रामाणिक हैं'।

"आम्नायस्य"=आम्नाय (वेद) के "क्रियार्थत्वात्" विधि और निषेध रूप क्रिया के प्रतिपादन साधन होने से 'तस्मात्" इसलिये 'आनर्थक्यम्' वे अंश निष्प्रयोजन हैं अर्थात् पौरुषेय वाक्यों के समान ही वे वेदवाक्य निष्प्रयोजन हैं "उच्यते" (यह) कहा गया है।

ननु उदाहृतानामर्थवादानामनुष्ठेये धर्म्मे प्रामाण्याभावेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्तु, तत्प्रत्यायकत्वेन स्वतःप्रामाण्यस्य अपवदितुमशक्यत्वाद्

प्रथम पाद में इष्ट-फल-साधन वेद-विधि का प्रामाण्य प्रतिष्ठापित होने पर समग्र वेद का प्रामाण्य सूचित होता हैं। प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में केवल विधिबोधक वेद वाक्य का ही प्रामाण्य है, समग्र वेद वाक्य का नहीं— इस आशय से पूर्वपक्षी के मत का उत्थापन करते हुए महर्षि जैमिनि ने छः सूत्रों से पूर्वपक्ष का प्रतिपादन किया हैं। अनन्तर सिद्धान्ती ने "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्" इत्यादि बारह सूत्रों से पूर्वोक्त पूर्वपक्ष का परिहार और सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

पूर्वपक्षी ने "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस सूत्र के द्वारा वेदार्थरूप धर्म का विचार करना कर्तव्य है—यह कहा है। इस सूत्र के विषयभूत "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वेद वाक्य से अवगत होता है कि संपूर्ण वेद में पुरुषार्थ की प्राप्ति का साधन सूचित किया गया है। धर्म और अधर्म का स्वरूप अवगत कर अधर्म का परित्याग-पूर्वक धर्म का अनुष्ठान करने पर पुरुषार्थ की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये विधि एवं निषेध ही पुरुषार्थ का साधन है, अतः विधि और निषेध क्रियास्वरूप है, फलतः वेद के जिस अंश से क्रिया का प्रतिपादन नहीं है, उन वेदांशों को अप्रमाणिक ही मानना उचित है। विधि, मन्त्र, नामधेय और अर्थवाद इन चारभागों में वेद विभक्त है। वेद का विधि भाग ही साक्षात् सम्बन्ध से पुरुषार्थ के उपायों का निर्देश करता है, अतः क्रिया प्रतिपादन करने वाले वेद के अंशों का ही प्रामाण्य सिद्ध होता है। उपक्रम, उपसंहार अभ्यास से भी क्रिया प्रतिपादक वेद अंशों का ही प्रामाण्य सिद्ध करता है। "चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" इससे उपक्रम कर "तस्य ज्ञानमुपदेशः" इस मध्यस्थ वचन से इसी अर्थ का अभ्यास किया है और "तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः" इस वाक्य से उपसंहार किया है, अतः वेद के विधि अंश का ही प्रामाण्य अवगत होता हैं। वेद के जिन अंशों से क्रिया का प्रतिपादन नहीं है, वे अंश अनर्थक हैं, उनका प्रामाण्य मानने में कोई भी उचित तर्क या हेतु नहीं है।

अर्थ—उदाहृत अर्थवादवाक्यों का अनुष्ठेय धर्म में प्रामाण्य न होने पर स्वार्थ में प्रामाण्य माना जा सकता है उसका अर्थ का प्रत्यायक होने से स्वतः प्रामाण्य

इत्याशङ्क्य अन्येषु केषुचिदर्थवादेषु मानान्तरविरोधदर्शनादप्रामाण्ये सति तद्दृष्टान्तेन सर्व्वेषामपि अर्थवादानामप्रामाण्यमित्यभिप्रेत्य सूत्रयति—

'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' (जै० १।२।२) इति।

शास्त्रविरोधो दृष्टविरोधः शास्त्रदृष्टविरोधः इति त्रिविधो विरोधोऽर्थवादेषु उपलभ्यते। तथा हि, स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इत्यत्र श्रूयमाणं मानसं चौर्य्यं वाचिकमनृतवदनं च प्रतिषेधशास्त्रेषु विरुद्धम्। 'तस्माद् धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे नार्च्चिस्तस्मादर्च्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्यत्र दृष्टविरोधः तथा 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (मै० सं० १।४।१।१) इत्यत्रापि प्रत्यक्षविरोधः। 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा' (तै० सं० ६।१।१।१) इत्यत्र शास्त्रदृष्टविरोधः। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिशास्त्रे हि आमुष्मिकं फलं दृश्यते। तस्माद् विरोधात् अर्थवादानामप्रामाण्यम्।

का अपलाप करना शक्ति से साध्य नहीं है, इस आशङ्का से अन्य कतिपय अर्थवाद वाक्यों में अन्य प्रमाणों का विरोध होने से उसके दृष्टान्त से सभी सर्थवादों का अप्रमाण्य प्राप्त होता है इस दृष्टि से सूत्र की अवतारणा की है :—

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च (१।२।२)—अर्थवाद वाक्यों के अप्रामाण्य में अन्य साधनों का प्रदर्शन करते हुए परमर्षि जैमिनि ने कहा है—शास्त्र से अवगत मन्त्रों के साथ विरोध है। अतः अर्थवाद वाक्य अप्रमाण है, कुछ अर्थवाद वाक्य प्रत्यक्ष विरुद्ध है और कतिपय अर्थवाद वाक्य शास्त्रदृष्ट विरुद्ध होते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष एवं शास्त्र वचनों के द्वारा अवगत विषयों के विरुद्ध हैं। फलतः शास्त्र-विरोध, दृष्ट-विरोध एवं शास्त्रदृष्ट–विरोध—इन तीन प्रकार के विरोधों के कारण अर्थवाद वाक्य अप्रमाण हैं। "स्तेनं मनः" अनृतवादिनी वाक्" इत्यादि थंवाद वाक्यों में अध्याहार कर विधि की कल्पना की जाय तो यही अर्थ मानना होगा कि मन चोर है अतः स्तेय अर्थात् चौर्य कर्म करना चाहिये, वाणी अनृतवादिनी है, अतः, अनृतभाषण कर्तव्य है—इसी रूप में "यतः स्तेयं मनः

ननु 'सोऽरोदीद्' इत्यादीनां निष्प्रयोजनत्वात् 'स्तेनं मनः' इत्यदीनां च विरोधादप्रामाण्येऽपि फलप्रतिपादकानामर्थवादानां तदुभयवैलक्षण्याद् अस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्कय उत्तरं सूत्रयति —

'तथा फलाभावात्' (जै० १।२।३) इति।

यथा मानान्तरविरुद्धम् अर्थवदैरुक्तं तथा फलमपि अविद्यमानमेव तैरुच्यते। तथा हि, गर्गत्रिरात्रं प्रकृत्य श्रूयते, शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ताण्ड्य ब्रा० २०।१६।६) इति। दर्शपूर्णमासयोर्वेदाभि-

---

अतः स्तेनं कर्तव्यम्", "यतः अनृतवादिनी वाक् अतः अनृतभाषणं कर्तव्यम्", किन्तु, चोरी करना एवं झूठ बोलना उचित नहीं है। इसी प्रकार "तस्माद् धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशेनार्चिस्तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तददृशे न धूमः" (तै० ब्रा० २।१।२) क्योंकि दिन में अग्नि का ही धूम दिखाई देता है, किन्तु 'अर्चिः अग्नि शिखा नहीं दिखाई देती है, एवं रात्रि में अग्नि की शिखा ही दिखाई देती है, किन्तु, धूम नहीं दिखाई देता है। "नचैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वा" (मैत्रायणीसंहिता १।४।११) हम लोग ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण हैं, यह नहीं जानते हैं, इत्यादि अर्थवाद प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं। इसी प्रकार "को हि तद् वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा न वा" (तै० सं० ६।२।२) परलोक में कुछ है या नहीं, इसको कौन जानता है, यह शास्त्रदृष्ट विरुद्ध है, कारण, "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि शास्त्रों से पारलौकिक फल का विषय अवगत होता है। इसलिए विरोध से अर्थवाद वाक्यों का अप्रमाण्य है।

यदि यह कहा जाय कि 'सोऽरोदीत्' इत्यादि प्रयोजन शून्य होने से स्वं 'स्तेनं मनः' यह विरुद्ध होने से इम वाक्यों को प्रामाण्य न होने पर भी फल के प्रतिपादक अर्थवाद वाक्यों दोनों से विलक्षण हैं, अतः उनका प्रामाण्य होना चाहिए—उस आशंका से सूत्र लिखते हैं—

तथा फलाभावात् (१।२।३)—अर्थवाद वाक्यों से अन्य प्रमाणों से सिद्ध विषयों से विरुद्ध विषयों का निर्देश किया गया है, जिसका विश्लेषण पूर्वसूत्र के द्वारा उपलब्ध है। किन्तु, इतना ही नहीं, वरन्, ऐसे भी फलों के विषय कहे गये हैं; जो नहीं हो सकते हैं। जैसे—गर्गत्रिरात्र के प्रसंग में सुना जाता है—"शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद" (ताण्ड्यमहाब्राह्मण २०।१६।६) "जो

मर्शनं प्रकृत्य श्रुयते 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' (तै० सं १।७।४।६) इति। न च अयं वेदितृणां तत् फलमुपलभामहे।

ननु, ऐहिकफलवाक्यानां विसंवादप्रामाण्येपि आमुष्मिकफलवाक्यानामस्तु प्रामाण्यमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

अन्यानर्थक्यात्' (जै० १।२।४) इति।

एवं हि श्रूयते-'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् आप्नोति' (तै० ब्रा० ३।८।१०।५) 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति'; तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२)। तत्र अग्न्याधेयगतया पूर्णाहुत्या सर्वकामप्राप्तेरन्यानि अग्निहोत्रादीनि उत्तरकालीनानि अनर्थकानि स्युः। तथा निरूढ़पशुबन्धानुष्ठानेन सर्वलोकाभिजयात् ज्योतिष्टोमादीनामानर्थक्यम्। अध्ययनकालीनेनैव अश्वमेधवेदनेन ब्रह्महत्यादितरणात् तदनुष्ठानं च व्यर्थं स्यात्। तस्मादामुष्मिकफलवाक्यानामपि अप्रामाण्यम्।

व्यक्ति इस प्रकार जानता है, उसका मुख शोभायमान होता है।" यह फल नहीं हो सकता है, कारण, इस प्रकार जानने से मुख कैसे शोभायमान हो सकता है? इसी प्रकार दर्शपूर्णमास में वेदाभिमर्शन के विषय में कहा है—"आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद।" "जो व्यक्ति इसको इस रूप में अवगत करता, उसकी सन्तान वाजी (वाज = अन्न + इन = वाज) अर्थात् अन्नवान् या शस्यवान् होती है" इत्यादि अर्थवाद वाक्यों के फल दृष्ट नहीं होते हैं, अतः अनेक स्थलों में अर्थवाद निष्फल अर्थात् जिस रूप के फल कहे गये हैं, उनकी प्राप्ति न होने से वे अर्थवाद अप्रमाण हैं।

अर्थ—ऐहिक फल के प्रतिपादक वाक्यों का विसंवाद होने से अप्रामाण्य होने पर भी आमुष्मिक फल के प्रतिपादक अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य है। इस शङ्का उत्तर देते हैं—

इस प्रकार सुना जाता है—'पूर्णाहूत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति' (पूर्णाहुति से सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है), 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति', 'तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद।' अग्न्याधेय में होने वाली पूर्णाहुति से ही सब कामनाओं की

सिद्धि हो जाने पर उत्तरकालीन अन्य अग्निहोत्र आदि अनर्थक हो जाते हैं। उसी प्रकार निरूढ पशुबन्ध के अनुष्ठान से ही जब सब लोकों की प्राप्ति हो जाती है तब ज्योतिष्टोम आदि याग का आनर्थक्य हो जाता है। अध्ययन काल में प्राप्त अश्वमेध ज्ञान से ही जब ब्रह्म हत्यादि से छुटकारा मिल जाता है तब अश्वमेध का अनुष्ठान व्यर्थ ही होगा। इसलिये आमुष्मिक फल के प्रतिपादक वाक्यों का अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

शारदी—अन्यानर्थक्यात् ।१।२।४ 'अन्य कर्मों का आनर्थक्य होने से।'

अन्यानर्थक्यात् (१।२।४)—अन्य का अर्थ अर्थवाद से अतिरिक्त अनेक वाक्यों की अनर्थकता होने से अर्थवाद प्रमाण नहीं है। यदि अर्थवाद का प्रामाण्य स्वीकार किया जाय, तब अनेक स्थलों में विधिवाक्य अनर्थक या विफल होने लगेंगे, इसलिये अर्थवाद को प्रमाण नहीं कहा जा सकता है।

श्रुति में कहा गया है—"तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद।" (तै० ५।३।१२।१) जो व्यक्ति अश्वमेध यज्ञ करता है, एवं जो उसका इस प्रकार (स्वरूप) अवगत करता है, वह मृत्यु का अतिक्रमण करता है; पाप से उद्धार प्राप्त करता है तथा ब्रह्महत्या से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। इस प्रसंग में यह कहना है कि अश्वमेध का स्वरूप जानने से ही पूर्वोक्त फलों की प्राप्ति होती है, जो व्यक्ति यज्ञ करता है उसको भी पूर्व में वेद का अध्ययन करना पड़ता है, अतः अध्ययन काल में ही अश्वमेध के स्वरूप की अवगति हो जाने से "अश्वमेधेन यजेत" यह विधि निरर्थक हो जायेगी, कारण, अध्ययन के बिना तो यज्ञ का अधिकारी नहीं होता है और अध्ययन से ही फल की प्राप्ति हो जाने से पुनः यज्ञ का अनुष्ठान तो व्यर्थ ही होगा, क्योंकि, यज्ञ के अनुष्ठान के सम्पादन में जो कष्ट होता है उसकी तुलना में वेदाध्ययन एवं यज्ञ विषयक शास्त्रीय ज्ञान में श्रम नगण्य है, अतः विना आयास के ही अभीष्ट की प्राप्ति हो जाने पर कौन बुद्धिमान् उसकी प्राप्ति के लिये क्लेश सहन करने की इच्छा करेगा। इसी के उदाहरण स्वरूप भाष्यकार ने कहा है—

ननु मा भूत् फलवाक्यानां प्रामाण्यम्; तथापि निषेधवाक्येषु विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति--
'अभागिप्रतिषेधात्' जै० १।२।५) इति ।

अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥

पथ के किनारे अकवन (आक) के वृक्ष में यदि मधु की प्राप्ति हो जाती है, तब उसकी प्राप्ति के लिए पर्वत पर क्यों जायेगा ? इसी प्रकार यदि अभीष्ट विषय की अनायास सिद्धि हो जाय तब कौन विद्वान् उस के लिए विशेष परिश्रम करना चाहेगा ? इसी प्रकार "पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानाप्नोति" (तै०ब्रा० ३।८।१०।५) "पूर्णाहुति के द्वारा सभी कामनाएँ सिद्ध होती हैं । इसी प्रकार "पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति ।" जो व्यक्ति निरूढ़ पशुबन्धनामक यज्ञ करता है, वह स्वर्गादि सभी लोकों का लाभ करता है इत्यादि सभी अर्थवाद अन्य विधियों के विधायक हैं । क्योंकि; अग्नि आधान कर्म में पूर्णाहुति देने से ही यदि सभी कामनाओं की पूर्ति हो तो अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान अनर्थक हो जायगा, क्योंकि; पूर्वसम्पादित अग्नि आधान के बिना अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान नहीं हो सकता है और पूर्णाहुति के बिना अग्नि आधान कर्म सम्पन्न नहीं हो सकता है । इस प्रकार निरूढ़ पशुबन्धनात्मक यज्ञ करने से ही यदि स्वर्गलोक की प्राप्ति हो जाती है तो इसके बाद कर्तव्यरूप में विहित ज्योतिष्टोम आदि का विधान विफल हो जायेगा । अतः जिन अर्थवाद वाक्यों का पारलौकिक फल कहा गया है, वे अनर्थक होने से अप्रमाण हैं; क्योंकि विधिवाक्यों का प्रमाण निश्चित होने से अर्थवाद वाक्यों के द्वारा उनको अन्यथा नहीं किया जा सकता है अर्थात् विधिवाक्यों का आनर्थक्य या अप्रामाण्य नहीं हो सकता है । वरन् निश्चित प्रामाण्यवाले विधिवाक्यों से अर्थवाद वाक्यों का ही प्रामाण्य बाधित होता है—यही युक्ति सङ्गत है ।

अर्थ--माना कि फलप्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है, तथापि निषेध वाक्यों में विरोध की प्राप्ति न होने से उनका प्रामाण्य तो स्वीकार है । इस शंका का उत्तर प्रस्तुत करते हैं—

'अप्राप्त अर्थ का निषेध करने से ।'

'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यत्र अन्तरिक्षस्य च दिवश्च प्रतिषेधभागित्वं नास्ति, तत्र चयन-प्रसङ्गस्यैव अभावात्।

मा भूत्तर्हि निषेधानां प्रामाण्यम्। 'बबरः प्रवाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) इत्यादीनां पूर्वपुरुषवृत्तान्ताभिधायिनां विरोधानुपलम्भादस्तु प्रामाण्यम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति--

---

'न पृथिवी पर अग्नि-चयन करना चाहिये, न अन्तरिक्ष में और न द्युलोक में' यहाँ पर अन्तरिक्ष में तथा द्युलोक में अग्नि-चयन के प्रतिषेध करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि अन्तरिक्ष में तथा द्युलोक में अग्निचयन करने के प्रसंग के अभाव होने से।

शारदी—अभागिप्रतिषेधाच्च (१।२।५)--भागी का अर्थ प्राप्ति करने के योग्य अर्थात् या प्रतिषेध के योग्य होता है, इसलिये अभागिप्रतिषेध का अर्थात् अप्राप्त विषय का निषेध किया गया है, इसलिए अर्थवाद वाक्य अप्राप्त का निषेध करता है, अतः अर्थवाद वाक्य अप्रमाण है।

आशय यह है कि अर्थवाद के अप्रामाण्य के अन्य कारणों का निर्देश करते हुये जैमिनि ने कहा है 'अभागिप्रतिषेधात्' प्राप्त विषयों का ही निषेध होता है, क्योंकि अप्राप्त विषयों का निषेध नहीं हो सकता है। "न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि" (तै० सं० ५।२।७) भूमि पर अग्नि का चयन नहीं करना चाहिये, इस अर्थवाद वाक्य में अप्रसक्त अर्थात् स्वाभाविक प्रवृत्ति के अधीन अप्राप्त विषय का ही निषेध है, क्योंकि आकाश में या द्युलोक में अग्नि का चयन करना असम्भव होने से इन लोकों में अग्नि के चयन करने में कोई भी प्रवृत्त नहीं हो सकता है और जिस कार्य में स्वाभाविक प्रवृत्ति ही नहीं है उसके निषेध करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार भूमि में अग्नि चयन का प्रतिषेध होने से अग्नि चयन विधि ही वाधित हो जायेगी, क्योंकि यदि मि में अग्नि का चयन नहीं किया जाय तो कहाँ अग्नि का चयन किया जायगा? फलतः इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा अग्नि चयन की विधि ही वाधित हो जायेगी। जिस अर्थवाद से विधि वधित होगी वह अर्थवाद प्रमाण नहीं हो सकता है। इसलिये ये अर्थवाद अप्राप्त पिषय के प्रतिषेधक हैं, अतः स्वार्थ में भी प्रमाण नहीं है।

'अनित्यसंयोगात्' (जै० १।२।६) इति ।

बबरादिरूपेण अनित्येन अर्थेन संयोगे सति अस्य वाक्यस्य ततः पूर्वम् अभावात् कालिदासादिवाक्यवत् पौरुषेयत्वं प्रसज्येत ।

किं बहुना ? सर्वथापि नास्त्येव अर्थवादानां प्रामाण्यम् इति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तं सूत्रयति--

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १।२।७) इति ।

'तु' शब्दोऽर्थवादानामप्रामाण्यम् वारयति । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्येवमादीनाम् अर्थवादानां 'वायव्यं श्वेतमालभेत' (तै० सं० २।१।१।१)

अर्थ--निषेधों का प्रामाण्य नहीं परन्तु पूर्व पुरुषों का अभिधान करने वाले 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में विरोध प्राप्त न होने से उनकी तो स्वीकृति है । इस शङ्का का परिहार निम्न रूप से करते हैं--

'अनित्य अर्थों के साथ संयोग होने से ।'

बबर आदि अनित्य अर्थों के साथ संयोग होने पर यह सिद्ध हो जाता है कि उन वाक्यों का उन बबर आदि से पूर्व अभाव था जिससे इन वाक्यों का कालिदास आदि के वाक्यों की तरह पौरुषेयता ज्ञात होती है ।

अधिक क्या कहा जाय, किसी भी प्रकार अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है । यह शङ्कापक्ष है ।

शारदी-- अनित्य विषयों का संयोग अर्थात् प्रतिपादन होने से भी अर्थवाद वाक्य अप्रमाण है । वेद में जन्म-मरणशील मनुष्यों का उल्लेख है । जैसे--"बबरः प्रवाहणिरकामयत" (तै० सं० ६।१।१०।२) । "कुसुरुविन्द ने कामना की, इत्यादि स्थलों में पिता और पुत्र का उल्लेख मिलता है, अतः, अर्थवाद वाक्यों का अप्रमाण्य है । इन सूत्रों के द्वारा शंकापक्ष किया गया है । अतः अर्थवाद के अप्रामाण्य सूचक पद पञ्चम्यन्त में प्रयुक्त हैं अर्थात् इन कारण से इनका अप्रामाण्य है ।

सिद्धान्त पक्ष--विधिना त्वेकवाक्यत्वास्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः (१।२।७)

इत्यादिना विधिना सह एकवाक्यत्वाद् अस्ति धर्मे प्रामाण्यम् । न च विधि वाक्यस्य अर्थवादनैरपेक्ष्येण पदान्वयसम्पूर्तेस्तत्र अर्थवादानां नास्ति उपयोग इति शङ्कनीयम् । ते हि अर्थवादाः पुरुषप्रवृत्तिम् आकाङ्क्षतां विधीनां स्तुत्यर्थत्वेन उपयुक्ताः स्युः । स्तुत्या च प्रलोभितः पुरुषस्तत्र प्रवर्तते ।

अर्थ—विधि भाग के साथ एक वाक्यता होने के कारण अर्थवाद-वाक्यों को विधि वाक्यों की स्तुति करने के लिए समझना चाहिये ।' इस सूत्र में 'तु' शब्द अर्थवाद वाक्यों के अप्रामाण्य का निवारण करता है । "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" आदि अर्थवाद वाक्यों का "वायव्यं श्वेतमालभेत" (तै० सं० २।३।१।१) आदि विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता के द्वारा धर्म में प्रामाण्य है । विधि वाक्य का अर्थवाद की अपेक्षा के विना पदान्वय की सम्पूर्ति होने से अर्थवादों का उपयोग नहीं है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अर्थवाद वाक्यों पुरुष की प्रवृत्ति की आकांक्षा करते हुए विधि वाक्यों की स्तुति रूप अर्थ के रूप में उपयोग होता है और स्तुति से प्रलोभित पुरुष उन विधियों में प्रवृत्त होता है ।

शारदी :—विधिना=स्तुति साकाङ्क्ष विधि के साथ 'तु' शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है 'एकवाक्यत्वात्' प्रयोजन साकाङ्क्ष अर्थवादों की एक वाक्यता होने से 'विधिना' विधिविहित कर्म कलापों की प्रशंसा रूप प्रयोजन साकाङ्क्ष लाक्षणिक अर्थ के द्वारा 'स्युः' अर्थवाद सार्थक या सफल होते हैं । विधिवाक्य प्रशंसा सापेक्ष हैं एवं अर्थवाद प्रयोजन सापेक्ष हैं, अत; अर्थवाद विधिवाक्य के साथ एक वाक्य अर्थात् मिलित होकर विधि विहित कर्मों की प्रशंसा, स्वरूप प्रयोजन के द्वारा प्रयोजनवान् अर्थात् सार्थक या सफल होने से प्रमाण हैं !

आशय यह है कि पूर्वपक्षी ने अर्थवाद वाक्यों का अप्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयास किया था, अतः सिद्धान्ती ने इसके उत्तर में कहा है कि अर्थवाद अप्रमाण नहीं है । कारण, स्वाध्याय विधि से ही अवगत हैं कि वेद के विधि, मन्त्र, नामधेय एवं अर्थवाद ये सभी अंश प्रमाण हैं, वेद का एक अक्षर भी निष्प्रयोजन नहीं है । विधि के प्रामाण्य का विश्लेषण पूर्व में ही किया गया है ।

अर्थवाद का प्रामाण्य प्रस्तुत प्रसङ्ग के द्वारा सिद्ध किया जा रहा है। क्योंकि, पूर्वपक्षी ने अर्थवाद वाक्यों का आनर्थक्य प्रदर्शित कर इनके अप्रामाण्य की सिद्धि करने की चेष्टा की है। प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध लौकिक फल के विषयों में ही पुरुष का स्वतः सिद्ध अनुराग होने के कारण उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है; और उस फल के साधन अर्थात् जिस उपाय से फल की प्राप्ति हो सकती है; उसमें जीव प्रवृत्त होता है। किन्तु, स्वर्गादि अलौकिक फल प्रत्यक्षगम्य या अनुमान सिद्ध न होने से उसके उपायभूत योगादि क्रियाओं में भी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः "भूतिकामो यजेत", 'अभ्युदय चाहने वाला व्यक्ति याग करे' इस विधि वाक्य को सुनकर अभ्युदयरूप फल के साधन या उसके उपायभूत याग में पुरुष की प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर भी वह बलवती प्रवृत्ति नहीं होती है। इसमें कष्ट ही होगा यह अनिष्ट है, अर्थात् अनभिप्रेत यागानुष्ठानरूप दुःख में अवसान लाभ करेगा—यह सोचकर निष्प्रभ हो जाता है। फलतः प्रवृत्ति उत्पादन करने वाली विधि की शक्ति भी कुण्ठित हो जाती है। अतः ऐसी स्थिति में कुछ ऐसे साधनो की आवश्यकता होती है, जिससे पुरुष की प्रवृत्ति बलवती हो जाय, और फल की सुन्दरता का बोध होने से पुरुष की प्रवृत्ति तीव्र हो जाय—यही स्वाभाविक है। इसलिए, फल की प्रशंसा करने पर उन विषयों में पुरुष की आकांक्षा अधिक होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि फल प्राप्ति के उपायों को केवल क्लेशरूप फल को देने वाला मानकर व्यक्तिउससे निवृत्त नहीं होता है, अतः अर्थवादवाक्य से फल की प्रशंसा या प्रशस्तता अर्थात् सौन्दर्य-बोधन करने पर पुरुष की प्रवृत्ति बलवती हो जाती है। पुरुष की प्रवृत्ति बलवती होने पर विधि शक्ति भी अव्याहृत होती है। इसलिए अर्थवाद विधिशक्ति का उत्तम्भक या उत्तेजक होता है। "वायव्यं श्वेत-माभेत पशुकामः" (तै० सं० २।१।१।१) 'अभ्युदय की कामना रखनेवाला व्यक्ति वायु देवता के उद्देश्य में श्वेत छाग का बध करे"; इस विधिवाक्य को सुनकर प्रथमतः पुरुष की क्रिया में प्रवृत्ति अवश्य होती है, किन्तु, अनन्तर अनिष्ट की उत्प्रेक्षाकर प्रवृत्ति से निवृत्ति हो जाता है, अतः बाद की श्रुति में कहा गया है "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" वायु अतिक्षिप्र 'शीघ्रगामी' देवता है अर्थात् यतः वायु देवता क्षिप्रतम है, अतः वायु जिस यज्ञ का देवता होता है,

उस यज्ञ का फल भी अतिक्षिप्र अर्थात् शीघ्र ही होता है। इस अर्थवाद वाक्य को सुनने पर अनिष्ट की आशंका से स्तम्भित व्यक्ति को प्रवृत्ति पुनः तीव्र हो जाती है, इसलिए, विधिवाक्य वैधविषय में पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न करने के लिए अर्थवाद की अपेक्षा करता है और अर्थवाद वाक्य स्वयं निरर्थक होने पर भी अर्थात् निष्प्रयोजन होने से विधिविहित प्रयोजनों के द्वारा अपनी प्रयोजनीयता का निर्वाह करने के लिए विधि की अपेक्षा करता है। इस प्रकार विधिवाक्य और अर्थवाद वाक्य 'नष्टाश्वदग्धरथन्याय:[१]' से परस्पर मिलकर एक प्रयोजन का निर्वाह करते हैं। इसी प्रकार निन्दात्मक अर्थवाद वाक्य भी निषेध विषय की अप्रशस्तता का बोधन कर निषेध्य विषय से शीघ्र निवृत्ति करने के लिये साधन होता है, फलतः निषेध विधि की सहायता कर निषेध्य विषय से निवृत्त करा देता है, निषेध विधि और निन्दात्मक अर्थवाद का परस्पर सम्प्रयोग होने से दोनों का एक प्रयोजन सिद्ध होती है। इसी प्रकार विधि और अर्थवाद की कल्पना करनी चाहिये, जहाँ अर्थवाद है किन्तु विधि नहीं है, वहाँ विधि का विचार करना चाहिये।

दर्शपूर्णमास प्रकरण में छः वाक्यों का निर्देश है, स्वर्गकामी व्यक्ति दर्शपूर्णमास याग करे, इसके बाद समिधो यजति आदि वाक्य हैं। प्रथम दृष्टि में ये सभी वाक्य परस्पर निराकांक्ष रहकर अपने-अपने अर्थ की अवगति कराते हैं, किसी वाक्य का किसी वाक्य के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। किन्तु; एक

१—मार्ग में दो व्यक्ति अपने-अपने रथ से कहीं की यात्रा कर रहे थे, भाग्यवश एक व्यक्ति के रथ से घोड़ा भाग गया, वह रथ को आगे ले जाने में असमर्थ था, दूसरे यात्री के पास घोड़ा था, किन्तु उसका रथ टूट गया था; वह भी आगे की यात्रा में असमर्थ था, एक का रथ घोड़े के विना व्यर्थ था और दूसरे का अश्व रथ के विना निष्कर्म था, इस सन्दर्भ में दोनों ने विचार किया कि एक का घोड़ा और दूसरे का रथ परस्पर मिलकर उपयोग में लिया जाय तो दोनों का प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार अर्थवाद वाक्य और विधिवाक्य परस्पर मिलकर एक ही प्रयोजन के सिद्ध कराने में समर्थ होते हैं।

प्रकरण में पठित है, अतः उत्पत्ति विधि के द्वारा अप्रवृत्त-प्रवर्तकता के समान ही अज्ञातब्रह्मज्ञापक-वेदान्त में विधि क्यों नहीं होगी? ऐसी स्थिति में वेदान्त ब्रह्म-विषय में प्रमाण होगा ही।

सिद्ध वस्तु में विधि कैसे सम्भव है? विधि का विषय साध्य वस्तु ही होती है, सिद्ध वस्तु नहीं। उत्पत्ति विधि साक्षात् प्रवर्तक भले ही न हो क्रिया बोधक होने से विनियोग विधि के साथ मिलित होकर प्रयोग विधि के रूप में परिणत होती है। ब्रह्मस्वरूप ज्ञापक वेदान्त वाक्य वैसा नही है। अतः उत्पत्ति विधि के समान ब्रह्मस्वरूप-प्रतिपादक वेदान्त-वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि कोई भी अनागत अर्थात् उत्पाद्यभाव को ही विषय करता है। प्रकृत में भाव शब्द का अर्थ भावना होता है जिस पुरुष-व्यापार के द्वारा किसी कार्य के करने में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है--वही भावना है। णिच्प्रत्ययान्त भू धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय कर 'भाव' शब्द सिद्ध होता है। इसी भाव का अर्थ भावना है। केवल भू धातु से घञ् प्रत्यय करने पर जो भाव की निष्पत्ति होती है उस भाव शब्द का अर्थ उत्पत्ति होता है। भावना बोधक ही विधि होती है। भावना अनागत या उत्पाद्य दोनों होती है। उत्पाद्यत्व का हेतु ही अनागतत्व है। यह विधि चार प्रकार की है--अधिकार, विनियोग, प्रयोग और उत्पत्ति। अधिकार विधि पुरुष के साथ फल का सम्बन्ध अवगत कराती है। यदि अन्य पुरुष को फल की प्राप्ति होती है तो फल के जनक कार्य में कर्ता की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः, कर्ता के साथ फल का सम्बन्ध बताना आवश्यक है और यह अधिकारी विधि के द्वारा होता है।

विनियोग विधि क्रियाफल जनक होती है, इसी की अवगति कराती हुई प्रधान क्रिया के साथ आवान्तर क्रिया के अङ्गाङ्गिभाव या गुण-प्रधान-भाव को भी अवगत करती है।

प्रयोग विधि एवं अनेक अवान्तर अङ्ग क्रियाओं का एक साथ अनुष्ठान सम्भव नहीं हैं, अतः इनमें क्रम आवश्यक है। इस विधि से उसी क्रम का प्रदर्शन होता है। इसीलिये उस विधि को अनुष्ठापन भी कहा जाता है। उत्पत्ति कहने से कर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है, अतः इन कर्म के स्वरूपों का ज्ञान जिस विधि से होता है--वही उत्पत्ति विधि है। पूर्वोक्त विधियों में सिद्ध

ननु अर्थवादानां प्रमादपठितत्वेन उपेक्षणीयत्वात् किमनेन एकवाक्यताप्रयासेन इत्याशङ्कय आह--

'तुल्यं च साम्प्रदायिकम्' (जै० १।२।८) इति ।

अनध्यायवर्जनादिनियमपुर:सरं गुरुसम्प्रदायादध्ययनं यत् तत् साम्प्रदायिकम् । तच्च विधानामर्थवादानां च समानम् । तस्माद् विधिवदेतेषामपि प्रमादपाठो न भवति ।

वस्तु प्रतिपादक ब्रह्म-विषयक ज्ञान का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है । यदि यह कहा जाय कि कर्मविधि के प्रकरण में ये वाक्य नही कहे गये हैं, अर्थात् कर्मकाण्ड प्रकरण के मध्य में वेदान्त वाक्य नहीं कहे गये हैं. इसलिये भिन्न प्रकरण में पठित वाक्य के साथ एक वाक्यता सम्भव ही नहीं है । पूर्वपक्षी ने इसके समाधान में कहा है कि उपनिषद् में कथित उपासना विधि उपलब्ध है; और उसी प्रकरण में ब्रह्मबोधक वाक्य भी पठित है, अत: उपासना विधि का यह शेष है ।

अर्थ—अर्थवाद वाक्यों को श्रुति में प्रमादवश पढ़ने के कारण वे उपेक्षणीय हैं तो इन अर्थवाद-वाक्यों की विधि-- वाक्यों के साथ एक वाक्यता स्थापित करने का प्रयास व्यर्थ है ऐसी शङ्का करके कहते हैं---

तुल्यं च साम्प्रदायिकम् (१।२।८)

अर्थ—'साम्प्रदायिकता दोनों में समान है ।' अनध्याय में पठन-पाठन ज्ञात करना इत्यादि नियमों के साथ गुरुपरम्परा से जो अध्ययन चला आता है उसे साम्प्रदायिक कहते हैं । और वह विधि-वाक्यों और अर्थवाद-वाक्यों दोनों के लिये समान है । इसलिये विधि-वाक्यों की तरह अर्थवाद वाक्य भी श्रुति में प्रमाद से नहीं पढ़े गये हैं ।

शारदी :---यह सन्देह स्वाभाविक है कि विधि वाक्य न रहने पर अर्थवाद वाक्य सप्रयोजन नहीं हो सकते हैं, और प्राशस्त्यज्ञापक अर्थवाद वाक्यों की सहायता के विना भी विधिवाक्य प्रवृत्ति -जनक हो सकता है; क्योंकि बाद में, किसी कारण से पुरुष की प्रवृत्ति कुण्ठित होने पर भी विधिवाक्य के सुनने पर प्रथम प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । ऐसी स्थिति में अर्थवाद वाक्य को प्रमाद से पठित

ननु शास्त्रदृष्टविरोधाच्च इत्येवमर्थवादेषु अनुपपत्तिरुक्ता इत्याशङ्क्य आह—

'अप्राप्ता चनुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत।' (जै० १।२।९) इति।

'स्तेनं मनः' इत्यादौ शास्त्रविरोधाद्यनुपपत्तिः प्राप्ता, प्रयोगस्य अनुक्तत्वात्। प्रयोगे हि स्तेनादीनाम् उच्यमाने शास्त्रविरोधः स्यात्;

मानने पर भी कार्य चल सकता है, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से अर्थवाद वाक्यों के प्रति अनेक आपत्तियाँ उत्थापित हो सकती हैं। इसी आशङ्का के उत्तर में कहा गया है—"तुल्यं च साम्प्रदायिकम्"। साम्प्रदायिक अर्थात् अनध्याय आदि नियमों का पालन करते हुए गुरु शिष्य क्रम में वेद का अध्ययन आ रहा है, अर्थवाद भी इसी रूप में अध्ययन का विषय है और अर्थवाद वाक्यों का वेदत्व भी सभी ने दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया है। अतः अर्थवाद वाक्य को प्रामादिक पाठ नहीं कहा जा सकता है। अनवधानतावश वेदाध्ययन के मध्य में अर्थवाद वाक्यों ने स्थान प्राप्त कर लिया है—यह नहीं कहा जा सकता है। इस लिये अर्थवाद प्रमादवश पठित होने से अप्रमाण है—यह नहीं कहा जा सकता है।

तुल्य=समान या एक रूप। च शब्द का अर्थ हेतु है। साम्प्रदायिक=गुरु शिष्य परम्परा से प्राप्त अध्ययन। अर्थात् अर्थवाद वाक्य भी गुरु शिष्य परम्परा क्रम में विध्यात्मक वेद के अध्ययन के समान है। अथवा अर्थवाद भी विधि के समान ही वेद के ही अन्तर्गत होने से उनका अप्रमाण्य नहीं कहा जा सकता है।

अर्थ—शङ्कापक्षी ने 'शास्त्रदृष्टविरोधाच्च' इस सूत्र से अर्थवाद वाक्यों में जो असंगति कही थी उसका उत्तर देते हैं—

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोग—भूतस्तस्मादुपपद्येत (१।२।९)—

'अनुपपत्ति प्राप्त नहीं, प्रयोग कहे जाने पर विरोध होता है, शब्द का अर्थ तो प्रयोग के लिये नहीं है, इसलिये अर्थवाद उपपन्न है।'

'स्तेनं मनः इत्यादि अर्थवादों में जो शास्त्रविरोध आदि असंगति बताई गई थी वह प्राप्त नहीं, क्योंकि इनका प्रयोग करने के लिये न कहा गया है। यदि

न चात्र स्तेनं कर्त्तव्यमति प्रयोग उच्यते, किन्तु स्तेनशब्दार्थ एव उच्यते। न च स्तेनशब्दार्थः प्रयोगभूतः। तस्माच्छब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्रविरोधाभावाद् अयमर्थवाद अयमर्थवाद उपपन्न एव।

स्तेय आदि का प्रयोग कहा जाता तो शास्त्र से विरोध होता। यहाँ पर 'स्तेयं कर्तव्यम्' ऐसा प्रयोग नहीं कहा गया है किन्तु स्तेय शब्द का अर्थ ही कहा गया है। और स्तेय शब्द का अर्थ प्रयोग करने के लिये नहीं कहा गया है। इसलिये शब्द के अर्थ के कथन मात्र से शास्त्र में विरोध नहीं होता इस प्रकार यह अर्थवाद उपपन्न है।

शारदी :---अर्थवाद वाक्य प्रमाद पठित अर्थात् वेद से बहिर्भूत नही है--इसका युक्ति पूर्वक विवेचन कर शंकापक्षियों के द्वारा उत्थापित विरोध का परिहार प्रदर्शित किया जा रहा है। शंकापक्षी ने "शास्त्रदृष्टविरोधाच्च" इस सूत्र से जिस दोष का आपादान किया है---वह ठीक नहीं है। कारण, अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। "सोऽरोदीत्" "प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्", "दिशो न प्राजानन्", "स्तेनं मनः", "अनृतवादिनी वाक्", इत्यादि अर्थवाद वाक्य यदि स्वार्थ बोधित क्रिया को कर्त्तव्य के रूप में सूचित करते तब इन अर्थवादों से रोदन, अपनी वपा का छेदन, दिङ्मोह स्तेय या मिथ्यावादन-आदि कर्त्तव्य के रूप में बोधित होते। ऐसी स्थिति में पूर्वपक्षी के द्वारा कथित-दोष सङ्गत होता और शास्त्र-दृष्ट-विरोध का कथन भी सङ्गत होता। किन्तु रोदन अर्थवाद के शब्दों का अर्थ मात्र होता है इस प्रकार अर्थवाद के अर्थ अविवक्षित हैं, क्योंकि, अर्थवाद स्वार्थ में तात्पर्य रहित हैं। इसलिये, जिस रूप में अर्थवाद वाक्यों की सप्रयोजनता का निर्देश पूर्वक उनके प्रामाण्य का स्थापन किया गया है---वह सर्वथा युक्तियुक्त ही है। अर्थवाद वाक्यों का तात्पर्य-निरूपण किया जा रहा है।

'अप्राप्ता'—प्राप्त नहीं, 'च' और "अनुपपत्ति" शास्त्रदृष्ट विरोधरूप युक्तिहीनता, "प्रयोगे" क्रिया का विधायक होने पर, "शब्दार्थ. शब्द का स्वार्थ, 'तु' किन्तु, "अप्रयोगभूत" क्रिया विधायक नहीं है, "तस्मात्" इसलिये, "उपपद्यते" युक्तियुक्त होता है। अर्थवाद वाक्यों का जिस रूप में अर्थ का निर्देश किया गया है, उससे मेरे पक्ष में किसी प्रकार युक्ति का विरोध सिद्ध नहीं हो

ननु 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तदसत्, वैयधिकरण्यात्। 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षत्यापो वै शान्ताः' (तै० सं० ५।४।४।३) इत्यत्र वेतसावके विधीयते आपश्च स्तूयन्ते इति वैधिकरण्यमित्याशङ्क्याह—

'गुणवादस्तु' (जै० १।२।१०) इति।

'तु'शब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति। गुणवादो ह्यत्र विवक्षितः। यथा लोके कश्मीराभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते, एवमत्रापि अद्भ्यो जाते वेतसावके स्वयमपि अद्भ्यो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव भवतः। शान्ताभ्योऽद्भ्यो जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्य अनिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्र अभिप्रेतः।

रहा है। क्योंकि, अर्थवाद यदि अपने अर्थभूत क्रिया का प्रतिपादक होता, तब विरोध होता, किन्तु अर्थवाद स्वार्थबोधित क्रिया का प्रतिपादक नहीं है, अतः जिस रूप में उनकी सप्रयोजनता से प्रामाण्य का निर्देश किया गया है, वह उत्पन्न होता है।

अर्थ :—अर्थवाद-वाक्य विधि-वाक्यों के द्वारा विहित अनुष्ठानों अथवा पदार्थों की स्तुति करते हैं, ऐसा जो कहा गया है वह यथार्थ नहीं है क्योंकि उन दोनों में वैयधिकरण्य होता है। 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षति आपो वै शान्ता।' इस वाक्य में वेतस शाखा और शैवाल का विधान किया गया है और जलों की स्तुति की गई है इस प्रकार यहाँ वैयाधिकरण्य है। इस शङ्का का उत्तर देते हैं—

'गुण का कथन किया गया है।'

'तु' शब्द वैयधिकरण्य दोष का वारण करता है। यहाँ गुणवाद विवक्षित है। यथा लोक में काश्मीर का रहने वाला देवदत्त काश्मीर प्रदेश की प्रशंसा किये जाने पर ऐसा समझता है कि उसी की प्रशंसा की गई है, उसी प्रकार यहाँ भी जलों की प्रशंसा होने पर जल से उत्पन्न वेतस और अवका की भी प्रशंसा हो जाती है। शान्त जलों से उत्पन्न होने के कारण वेतस और शैवाल

न चात्र स्तेनं कर्त्तव्यमति प्रयोग उच्यते, किन्तु स्तेनशब्दार्थ एव उच्यते। न च स्तेनशब्दार्थः प्रयोगभूतः। तस्माच्छब्दार्थवचनमात्रेण शास्त्रविरोधाभावाद् अयमर्थवाद अयमर्थवाद उपपन्न एव।

स्तेय आदि का प्रयोग कहा जाता तो शास्त्र से विरोध होता। यहाँ पर 'स्तेयं कर्तव्यम्' ऐसा प्रयोग नहीं कहा गया है किन्तु स्तेय शब्द का अर्थ ही कहा गया है। और स्तेय शब्द का अर्थ प्रयोग करने के लिये नहीं कहा गया है। इसलिये शब्द के अर्थ के कथन मात्र से शास्त्र में विरोध नहीं होता इस प्रकार यह अर्थवाद उपपन्न है।

शारदी :--अर्थवाद वाक्य प्रमाद पठित अर्थात् वेद से बहिर्भूत नही है--इसका युक्ति पूर्वक विवेचन कर शंकापक्षियों के द्वारा उत्थापित विरोध का परिहार प्रदर्शित किया जा रहा है। शंकापक्षी ने "शास्त्रदृष्टविरोधाच्च" इस सूत्र से जिस दोष का आपादान किया है--वह ठीक नहीं है। कारण, अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है। "सोऽरोदीत्" "प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्", "दिशो न प्राजानन्", "स्तेनं मनः", "अनृतवादिनी वाक्", इत्यादि अर्थवाद वाक्य यदि स्वार्थ बोधित क्रिया को कर्त्तव्य के रूप में सूचित करते तब इन अर्थवादों से रोदन, अपनी वपा का छेदन, दिङ्मोह स्तेय या मिथ्यावादन-आदि कर्त्तव्य के रूप में बोधित होते। ऐसी स्थिति में पूर्वपक्षी के द्वारा कथित-दोष सङ्गत होता और शास्त्र-दृष्ट-विरोध का कथन भी सङ्गत होता। किन्तु रोदन अर्थवाद के शब्दों का अर्थ मात्र होता है इस प्रकार अर्थवाद के अर्थ अविवक्षित हैं, क्योंकि, अर्थवाद स्वार्थ में तात्पर्य रहित है। इसलिये, जिस रूप में अर्थवाद वाक्यों की सप्रयोजनता का निर्देश पूर्वक उनके प्रामाण्य का स्थापन किया गया है--वह सर्वथा युक्तियुक्त ही है। अर्थवाद वाक्यों का तात्पर्य-निरूपण किया जा रहा है।

'अप्राप्ता'=प्राप्त नहीं, 'च' और "अनुपत्ति" शास्त्रदृष्ट विरोधरूप युक्तिहीनता, "प्रयोगे" क्रिया का विधायक होने पर, "शब्दार्थ. शब्द का स्वार्थ, 'तु' किन्तु, "अप्रयोगभूत" क्रिया विधायक नहीं है, "तस्मात्" इसलिये, "उपपद्यते" युक्तियुक्त होता है। अर्थवाद वाक्यों का जिस रूप में अर्थ का निर्देश किया गया है, उससे मेरे पक्ष में किसी प्रकार युक्ति का विरोध सिद्ध नहीं हो

ननु 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति यदुक्तं तदसत्, वैयधिकरण्यात्। 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षत्यापो वै शान्ताः' (तै० सं० ५।४।४।२) इत्यत्र वेतसावके विधीयते आपश्च स्तूयन्ते इति वैधिकरण्यमित्याशङ्क्याह—

'गुणवादस्तु' (जै० १।२।१०) इति।

'तु'शब्दो वैयधिकरण्यदोषं वारयति। गुणवादो ह्यत्र विवक्षितः। यथा लोके कश्मीराभिजनो देवदत्तः कश्मीरदेशेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते, एवमत्रापि अद्भ्यो जाते वेतसावके स्वयमपि अद्भ्यो जाते वेतसावके अप्सु स्तुतासु स्तुते एव भवतः। शान्ताभ्योऽद्भ्यो जातत्वात् वेतसावके स्वयमपि शान्ते सत्यौ यजमानस्य अनिष्टं शमयतः इत्येतादृशस्य गुणस्य वादोऽत्र अभिप्रेतः।

रहा है। क्योंकि, अर्थवाद यदि अपने अर्थभूत क्रिया का प्रतिपादक होता, तब विरोध होता, किन्तु अर्थवाद स्वार्थबोधित क्रिया का प्रतिपादक नहीं है, अतः जिस रूप में उनकी सप्रयोजनता से प्रामाण्य का निर्देश किया गया है, वह उत्पन्न होता है।

अर्थ :—अर्थवाद-वाक्य विधि-वाक्यों के द्वारा विहित अनुष्ठानों अथवा पदार्थों की स्तुति करते हैं, ऐसा जो कहा गया है वह यथार्थ नहीं है क्योंकि उन दोनों में वैयधिकरण्य होता है। 'वेतसशाखया चावकाभिश्चाग्निं विकर्षति आपो वै शान्ता।' इस वाक्य में वेतस शाखा और शैवाल का विधान किया गया है और जलों की स्तुति की गई है इस प्रकार यहाँ वैयाधिकरण्य है। इस शङ्का का उत्तर देते हैं—

'गुण का कथन किया गया है।'

'तु' शब्द वैयधिकरण्य दोष का वारण करता है। यहाँ गुणवाद विवक्षित है। यथा लोक में काश्मीर का रहने वाला देवदत्त काश्मीर प्रदेश की प्रशंसा किये जाने पर ऐसा समझता है कि उसी की प्रशंसा की गई है, उसी प्रकार यहाँ भी जलों की प्रशंसा होने पर जल से उत्पन्न वेतस और अवका की भी प्रशंसा हो जाती है। शान्त जलों से उत्पन्न होने के कारण वेतस और शैवाल

'सोऽरोदीत्' इत्यत्रापि रजतस्य पतिताश्रुरूपत्वाद् रजतदाने रोदनप्रसङ्गात् 'बर्हिषि रजतं न देयम्' (तै० सं० १।५।१।२) इति तन्निषेधेन विधीयेन अर्थवादस्य एकवाक्यत्वम्। तत्र रजतदानाभावे रोदनाभावरूपो गुणोऽत्र विवक्षितः, तेन च गुणेन रजतदाननिवारणरूपो विधिः स्तूयते। यद्यपि रजतस्य अश्रुप्रभवत्वमत्यन्तमसत् तथापि यथोक्तरीत्या विधेः स्तुतिः सम्पद्यते।

ये दोनों स्वयं भी शान्त होती हुई यजमान के अनिष्ट को शान्त कर देती हैं। इस प्रकार के गुण का कथन यहाँ पर अभिप्रेत है।

शारदी :—गुणवादस्तु (१।२।१०)—यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि जिस स्थल में अन्य की विधेयता एवं अन्य का प्राशस्त्य कहा जाता है, वहाँ व्यधिकरणता दोष प्राप्त होने से अर्थवाद वाक्य विधेय विषय की प्ररोचना नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में विधि के साथ एकवाक्यता न होने से अर्थवाद वाक्य का प्रामाण्य भी नहीं हो सकता है—इसी आशङ्का के उत्तर में सूत्रकार ने 'गुणवादस्तु' इस सूत्र कहा है। इस सूत्र में प्रयुक्त "तु" शब्द के द्वारा शंकापक्षी की आशंका का निवारण किया गया है। इन स्थलों में गुण के समान ही विवक्षा रहती है। जैसे "वेतसशाखया अवकाभिश्च अग्निं विकर्षति" इस वाक्य में वेतस शाखा विधेय है। किन्तु, इसके परवर्ती "आपो वै शान्ताः" इस अर्थवाद वाक्य में जल को शान्त कहकर प्रशंसा की गई है। अतः, इन दोनों में निश्चय ही कोई सम्बन्ध है, यह प्रतीत होता है। इसीलिए, इन वाक्यों में गुण प्रधानभाव या अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना करनी पड़ती है, अन्यथा एक प्रकरण में दोनों का पाठ निरर्थक होगा। इस प्रकार मूलभूत दर्शपूर्णमासयाग-बोधक-वाक्य के साथ समिध् आदि अङ्गबोधक वाक्यों का सम्बन्ध होने पर भी सभी वाक्यों का अपने-अपने अर्थमें अव्याहृत तात्पर्य है। यही इनमें वाक्यैकवाक्यता है। पदैकवाक्यताका स्वरूप सर्वथा भिन्न है। अर्थवाद वाक्यों से प्रथम प्रतीत अर्थ ही मूल विधि वाक्य के साथ अन्वित होने के समय परित्यक्त हो जाता है, एवं समग्र वाक्यों से लक्षित एक निन्दा या प्रशंसा रूप अर्थ विधि वाक्यार्थ में प्रविष्ट हो जाता है। अतः, इन दोनों की एक वाक्यताओं में अतिशय भेद है। इस दृष्टान्त के अनुरूप वेद के

मन्त्र भागों के साथ ब्राह्मणभागान्तर्गत विधिवाक्य की भी वाक्यैकवाक्यता होती है। मन्त्र भाग में देवता या यागसंक्रान्त वस्तु के परिचायक वाक्य का भी अपना स्वार्थरक्षणपूर्वक ब्राह्मणभाग के विधि वाक्य के साथ अन्वय होता है। ब्राह्मण भाग के वाक्य विधि में "ऐन्द्रं हविर्जुहोति" अर्थात् इन्द्र देवता के उद्देश्य से घृत दान करे और मन्त्र भाग में "वज्रहस्तपुरन्दरः इन्द्रो वृत्रम् अवधीत्" अर्थात् इन्द्रके हाथ में वज्र है और उस वज्र से वृत्र का वध किया। इस स्थल में विधि वाक्य के द्वारा अवगत अर्थ इन्द्र के विशेषण के रूप में अन्वित होकर वाक्यार्थ में प्रविष्ट हो जाता हैं। अतः मन्त्र भाग के साथ विधिवाक्य की वाक्यैकवाक्यता ही सम्भव है। इसी के आधार पर भाष्यकार ने उपनिषद् का सादृश्य प्रदर्शन करते हुए क्रियाविधिशेषत्व का वर्णन किया है।

शंकापक्षियों ने यह आशंका की है कि ब्राह्मणभाग के अर्थवाद और मन्त्र-भाग के मंत्र के समान वेदान्तवाक्य में क्रिया का सम्बद्ध न होने पर वेदान्त का प्रामाण्य नहीं रहेगा। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि वेदान्त वाक्य के क्रियापरक न होने पर भी ब्रह्मस्वरूपविधिपरक हो सकता है और ऐसा होने पर "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्" इस जैमिनिसूत्र के सिद्धान्त की रक्षा भी हो सकती। अप्रवृत्त प्रवर्त्तक ही विधि होती है—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति विधि किसी को प्रवृत्त नहीं करती है, केवल अज्ञातविषय की ज्ञापक ही उत्पत्ति विधि होती है। जैसे "अग्निहोत्रं जुहुयात्" अर्थात् अग्निहोत्रहोम करे यह वाक्य अज्ञात अग्निहोत्र की कर्तव्यता का ही ज्ञापन करता है, क्योंकि इतिकर्तव्यता या स्वरूप आदि का जब तक वर्णन नहीं होता है; तब तक वह किसी को प्रवृत्त नहीं कर सकता है, जैसे कोई व्यक्ति काञ्ची देश में पूर्वजों की परम्परा क्रम से विकास कर रहा है, यह जानकर उसके संबन्ध में कुछ कहने के उद्देश्य से यदि काञ्ची देश की प्रशंसा करता है,तब उस देश की प्रशंसा से उस व्यक्ति के द्वारा उसकी ही प्रशंसा अवगत होती है, वैसे ही इस स्थल में भी जल का शान्तत्व कथन जल में उत्पन्न वेतस शाखा की ही प्रशंसा की गई है। वेतस एवं अवका शान्त स्वभाव जल से उत्पन्न होने से स्वयं शान्त स्वभाव है, इसीलिये यह यजमान के भी अनिष्ट की शान्ति करने में समर्थ हैं—यही प्रकृत में अर्थवाद का तात्पर्य है।

अर्थ—'सोऽरोदीत्' इस अर्थवाद वाक्य की भी 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस

'यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभते' (तै० सं० २।१।१।४,५) इत्ययं विधिः प्रजापतिवपोत्खेदेन स्तूयते। तस्मात् प्रजापतिः स्ववपामपि उत्खिद्य अग्नौ प्रहृत्य ततो

निषेधरूप विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता सम्पन्न हो जाती है, क्योंकि यह विधिवाक्य रजतदान का निषेध करता है और अर्थवाद-वाक्य भी रजतदान की निन्दा करता हुआ कहता है कि रजत गिरते हुए आँसुओं के स्वरूप का होता है इससे रजतदान करने पर रोदन का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस अर्थवाद में रजतदान के अभाव में रोदनाभावरूप गुण विवक्षित है। यद्यपि यह नितान्त असत् है कि रजत को अश्रु उत्पन्न करता है तथापि जैसा ऊपर कहा गया है, उस अर्थवाद-वाक्य से विधि की स्तुति हो जाती है।

शारदी :—इसी प्रकार "बर्हिषि रजतं न देयम्" (तै० सं० १।५।१।२) इस वाक्य में बर्हि नामक यज्ञ में रजत के दान का निषेध किया गया है, इसी के बाद "सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्। तस्य यदश्रु शीर्यन्ते" इत्यादि अर्थवाद में कहा गया है कि उसने (रुद्र ने) रोदन किया, यही रुद्र का रुद्रत्व है, अर्थात् इसीलिए वह रुद्र है, रोदनकाल में जो अश्रुपात हुआ; वही रजत है। इसका आशय यह है कि जो व्यक्ति बर्हिः याग में रजत को दक्षिणा के रूप में देता है उसके घर पर वर्ष के भीतर ही ऐसा अनिष्ट होता है, जिससे निश्चित रूप में उसको रोदन करना पड़ता है। इस प्रकार इसके द्वारा रजत के दान की निन्दा कर रजत को दक्षिणा के रूप में न देने की प्रशंसा की गई है।

अर्थ—'जो प्रजा की कामना अथवा पशु की कामना करे वह प्रजापति देवताक तूपर (शृङ्गविहीन) अज का वध करे। यह विधिवाक्य है जिसकी प्रशंसा अर्थवाद वाक्य में प्रजापति के वपोत्खेद के द्वारा हुई है। क्योंकि प्रजापति ने अपनी वपा को निकालकर अग्नि में हवन करके उससे उत्पन्न शृङ्गविहीन अज का अपने लिये आलम्भन करके प्रजाओं और पशुओं को प्राप्त किया, इसलिये यह शृङ्गविहीन अज प्रजा आदि का सम्पादन करने वाला है। इस प्रकार यहाँ शृङ्गविहीन अज के गुण का कथन विवक्षित है।

शारदी :—तै० सं० २।१।४,५ में यह विधिवाक्य कहा गया है "प्रजाकामो

जातं तूपरम् अजम् आत्मार्थम् आलभ्य प्रजाः पशूंश्च लब्धवान्, तस्मात् प्रजादिसम्पादकोऽयं तूपरः इति तूपरगुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः।

'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' (तै० सं० ६।१।५।१) इत्येष विधिः 'दिशो न प्रजानन्' इत्यनेन दिङ्मोहेन स्तूयते। अथेयम् अदितिर्देवता दिङ्मोहमपि अपनीय दिग्विशेषं ज्ञापयति, तथा बहुविधकर्मसमुदाय-रूपे सोमयागे अनुष्ठानविषयं भ्रममपनयतीति किमु वक्तव्यमित्येवम-दितिदेवतागतस्य गुणस्य वादोऽत्र विवक्षितः। स्वकीयवपोच्छेदो देवयजनाध्यवसानमात्रेण दिङ्मोहश्च इत्युभयमस्तु वा मा वा, सर्वथापि

एवं पशुकामी व्यक्ति प्रजापति देवता के उद्देश्य से तूपर अर्थात् शृङ्गहीन छाग के द्वारा यज्ञ करे।" इसी के बाद श्रुति में कहा गया है—"प्रजापतिरात्मनो वपामुद-खिदत्।" इससे पूर्व में पशु नहीं था, अतः प्रजापति ने पशु के स्थान पर हृदय की मेदा को निकालकर अग्नि में आहुति की और इस कर्म का ऐसा सामर्थ्य है कि अग्नि में पशु की वपा की जगह पर अपनी वपा की आहुति देने के साथ ही साथ तूपर अज एवं अन्य पशु भी उत्पन्न हुए। यह घटना सत्य हो या असत्य इससे कुछ होना नहीं है। क्योंकि अत्यन्त काल्पनिक वस्तु के द्वारा भी प्रशंसा या निन्दा करना आज भी लोक व्यवहार में प्रसिद्ध है। प्रकृत में इसके द्वारा यही कहा गया है कि कर्म शीघ्र फल देता है, अथवा इसका यह तात्पर्य है कि विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये जब अपनी वपा का छेदनकर भी कर्म का अनुष्ठान किया गया तब धन आदि बाह्य पदार्थों के व्यय से तो वह कर्तव्य ही है। लोक-व्यवहार में भी ऐसा कहा जाता है कि जीवन विसर्जन कर के भी मानमर्यादा की रक्षा करूँगा तब रुपये पैसे की क्या बात है प्रकृत में भी यही समझना चाहिये।

अर्थ—'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' यह विधि वाक्य है जिसकी स्तुति 'दिशो न प्राजानन्' इस अर्थवाद वाक्य में दिङ्मोह के कथन से की गई है। जिस प्रकार यह अदिति देवता दिङ्मोह को भी दूर करके दिग्विशेष का ज्ञान कराती है, उसी प्रकार बहुत प्रकार के कर्मों के समुदाय रूप सोम याग में अनुष्ठान विषयक भ्रम को वह अदिति देवता दूर करती है। इस प्रकार इस अर्थवाद में अदिति देवता के गुण का कथन ही विवक्षित है। प्रजापति ने वपा-

स्तुतिपरत्वम् अभ्युपगच्छताम् अस्माकम् न किञ्चिद् हीयते। 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडूचीं श्रद्धया पिव' इत्यादौ अविद्यमानेनापि अर्थेन लोके स्तुतिदर्शनात्।

अथ पूर्वपक्षिणा शास्त्रविरोधं दर्शयितुं यदुदाहृतं 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाग्' इति तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'रूपात् प्रयात्' (जै० १।२।११) इति।

का उत्खेदन किया हो अथवा न किया हो, देवयज्ञ सम्पन्न करने मात्र से देवताओं को दिङ्मोह हुआ हो अथवा न हुआ हो, अर्थवादों को सर्वथा स्तुतिपरक मानने वाले हमलोगों का किसी भी तरह कुछ नहीं घटता है। 'शिखा ते वर्धते वत्स गुडुचीं श्रद्धया पिव' अर्थात् हे वत्स ! गुडूची को मन से पीओ तेरी चोटी बढ़ जायेगी इत्यादि में लोक में अर्थ के अविद्यमान होने पर भी प्रशंसा दिखलाई देती है।

शारदी :—इसी प्रकार "आदित्य: प्रायणीयश्चरु:" (तै० सं० ६।१।५।१) इत्यादि में आदित्य देवता के उद्देश्य से जो प्रायणीय आदि नामक यज्ञ में चरु का विधान किया गया हैं, उसी के साथ "देवा वै देवयजनकाले दिशो न प्राजानन् यह श्रुति कही गयी है। देवताओं को भी देवयज्ञ करते समय दिङ्मोह हुआ था, किन्तु, अदिति देवता के सामर्थ्य से उन देवताओं का मोह दूर हो गया, अत:, सोमयाग अनेक कर्मकलापों का संकुल हैं। इसलिए यजमान की इसमें भ्रान्ति या भूल होना स्वाभाविक है। किन्तु, अदिति देवता सम्बन्धी प्रायणीय एवं उदयनीय याग के चरु करने पर अदिति देवता के प्रभाव से यजमान का भ्रम दूर होगा। इस प्रकार इन स्थलों में गुणवाद ही विवक्षित है। जिस स्थल में,कोई गुण विशेषगत सादृश्य का उल्लेख कर अर्थ विशेष का वहाँ आरोप किया जाता है; उसको वहाँ गुणवाद कहा जाता है।

अर्थ—शंकापक्षी ने शास्त्रदुष्ट प्रदर्शन के लिए 'स्तेनं मनः अनृतवादिनी वाक्' इस अर्थवाद का उल्लेख किया है। इसका समाधानकरने के लिए उत्तर सूत्र कहा गया है।

रूपात् प्रायात् (१।२.११)

'हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृभ्णाति' (मैं० सं० ४।८।२।३) इत्येतं विधिं स्तोतुम अयमर्थवाद उच्यते। यथा लोके, किमृषिणा देवदत्त एव पूजयतिव्य:' इत्यत्र देवदत्तपूजां स्तोतुमेव औदासीन्यमृषौ उपन्यस्यते, न तु पूज्यत्वमृषेर्वारयितुम्, एवमत्रापि हस्ते हिरण्यग्रहणं प्रशंसितुं मनस: स्तेनरूपत्वं मृवाचोऽन्ततत्रादित्वं च उपन्यस्यते। तत्र गुणवादेन शब्दार्थो योजनीय:। यथा स्तेना: प्रच्छन्नरूपा एवं मनोऽपीति प्रच्छन्नरूपत्वमत्र गुण:। प्रायेण वाग् अनृतं वक्ति इति प्रायिकत्वं तत्र गुण:। हस्तस्तु य प्रच्छन्नो नापि अनृतबहुल:। अतो हस्ते हिरण्यधारणं प्रशस्तमिति स्तूयते।

यदपि दृष्टविरोधाय 'धूम एव अग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिकमुदाहृतं तत्र उत्तरं सूत्रयति—

अर्थ–यह अर्थवाद "हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति' (तै०सं० ४।८।२।३) इस विधिवाक्य से उपदिष्ट हाथ के द्वारा हिरण्यधारण की कर्तव्यता की प्रशस्तता का ज्ञापन किया गयाहै। चोर जिस प्रकार प्रच्छन्न रूप से रहता है—उसका स्वरूप गृहीत नहीं होता है, मन भो वैसा ही है एवं वाणी भी प्राय: अनृतवादिनी है, किन्तु, हाथ का न तो वैसा प्रच्छन्न रूप है और न अनृतयुक्त बहुल है। इसलिए हाथ में हिरण्य का धारण प्रशस्त है, इस प्रकार स्तुति की गई है।

शारदी—मन की स्तेन स्वरूपता एवं अनृतभाषण में प्रायिकता रूप सादृश्य के अनुसार गौणभाव से मन को स्तेन एवं वाणी को अनृतवादिनी कहा है, किन्तु, मन का स्तेनत्व या वाक्य की अनृतवादिता विवक्षित नहीं है। जैसे ऋषि से क्या काम है, यदु ही इसका विधान करेगा इस प्रकार के वाक्य में ऋषि की अपटुता प्रकटित नहीं होती है किन्तु यदु का ही सामर्थ्याधिक्य विवक्षित होता है--इस स्थल में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। "रूपात्"––समान रूप होने से "प्रायात्' प्रायिकता रूप से। गुणवाद के अनुसार मन को स्तेन एवं वाणी को अनृतबादिनी कहा है। ऋषि की क्या आवश्यकता है, देवदत्त की ही पूजा करे। इसमें देवदत्त की पूजा की स्तुति के लिये हीं ऋषि के प्रति औदासीन्य का प्रदर्शन है, ऋषि के पूज्यत्व का निषेध नहीं है।

'दूरभूयस्त्वात् (१।२।१२) इति।

'अग्निर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहेति ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहेति प्रातः' इत्येतौ विधी (ऐ० ब्रा० ५।५।६) स्तोतुं सोऽर्थवादः। यस्माद् अर्चिर्दिवा न दृश्यते तस्मात् सूर्य्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः। यस्माद् रात्रावर्चिरेव दृश्यते यस्मादग्निमन्त्रो रात्रौ प्रयोक्तव्यः सूर्य्यमन्त्रश्च दिवा—इत्येवं तयोर्मन्त्रयोः स्तुतिः। धूमार्चिषोरदर्शनोपन्यासस्तु दूरभूयस्त्वगुणनिमित्तः। भूयसि हि दूरे पर्वताग्रे वृक्षादयोऽपि न विस्पष्टं दृश्यते, किन्तु तृणसादृश्येन तेषां दर्शनाभास एव। तद्वद् अत्रापि।

अर्थ—इसके समाधान के लिए—दृष्टविरोध के उदाहरण स्वरूप "तस्माद्" धूम एवाग्निर्दिवा ददृशे नार्चिः। तस्माद् अर्चिरेवाग्नेर्नक्त ददृशे न धूमः" इस अर्थवाद का उदाहरण दिया है। अतः उत्तर सूत्र कहा जा रहा है–यह अर्थवाद "अग्निर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः।" (ऐ०ब्रा० ५।५।६) सायंकाल अग्निर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" यह कह कर अग्निहोत्र होम करे–यह विधि द्वय का शेष या अङ्ग है। इसका कारण यह है कि दिन में अग्नि की अर्चिः अर्थात् अग्निशिखा दिखाई नहीं देती है; केवल धूम ही दिखाई देता है. इसीलिये दिन में अग्नि के अदृश्य होने से सूर्य का मन्त्र ही प्रशस्त है, और दिन में अधिक दूर में स्थित अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती है, केवल धूम ही दृश्य होता है एवं रात में धूम दृश्य नहीं रहता है, किन्तु अग्नि की शिखा दिखाई देती है—यह अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार अधिक दूरी के कारण पर्वत के अग्रभाग पर अवस्थित वृक्षादि भी स्पष्ट रूप से दिखलाई नहीं पड़ते, किन्तु तृण के समान उनका दर्शन मात्र प्रतीत होता है। उसी प्रकार प्रकृत स्थल में समझ लेना चाहिए। (अतः यह अर्थवाद उक्त दोनों विधियों के प्राशस्त्य का बोधक होने से इनका स्वरूप में तात्पर्य नहीं है।

"दूरभूयत्वात्" अधिक दूरी होने से, अर्थात् दूरी का भूयस्त्व आधिक्य होने से दिन में अग्नि की शिखा दृश्य नहीं होती है एवं रात में धूम दृश्य नहीं होता है, अतः इस प्रकार यह गौण कथन है।)

यदप्यन्यद् दृष्टविरोधाय उदाहृतम्, 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' इति तत्र उत्तरं सूत्रयति—

'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' (मै० सं० १।४।११) इत्यस्य विधेः स्तावकोऽयमर्थवादः। यदि यजमानो देवाः पितरः' (तै० ब्रा० ३।७।५।४) इत्यादिमन्त्रेण प्रवरम् अनुमन्त्रयेत् तदानीमब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणो भवेदिति अनुमन्त्रणस्य स्तुतिः। 'न चैतद् विद्मः' इत्येतदज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वगुणेन तत्र प्रयुज्यते। यत्र स्त्रिया अपराधो भवति तत्र कर्त्तुरुत्पादयितुर्जारस्यापि पुत्रो दृश्यते। अतः पत्युपपत्योरुभयोः पुत्रदर्शनात् स्वकीय जन्म कीदृशमिति दुर्ज्ञानम्। अनेन अभि-

---

अर्थ—यद्यपि अन्य दृष्ट विरोध को दिखलाने के लिये' हम यह नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं या अब्राह्मग' इस दूसरे वाक्य को जो प्रस्तुत किया था उसका समाधान उत्तर सूत्र से करते हैं--

'स्त्री के अपराध के कारण जार का भी पुत्र दिखलाई पड़ता है।'

भाष्यभूमिका में इस सूत्र के विश्लेषण में कोई नवीनता नहीं है। पति और उपपति दोनों के पुत्र देखें जाते हैं, अतः अपना जन्म कैसा है—यह दुर्विज्ञेय है। इसी अभिप्राय से यह प्रयोग है, अतः दृष्ट विरोध नहीं है। अपने ब्राह्मण्य के सन्देह के लिये यह प्रयोग नहीं है।

'प्रवरे प्रव्रियमाणे ब्रूयाद् देवाः पितरः' इस विधि वाक्य की 'न चैतद् विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽ ब्राह्मणा वा' यह अर्थवाद वाक्य प्रशंसा करता है। यदि यजमान 'देवाः पितरः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा प्रवर के अनुमन्त्रण की प्रशंसा की गई है। 'न चैतद् विद्मः' इस अर्थवाद वाक्य में जो अज्ञान प्रकट किया गया है वह दुर्ज्ञानत्व गुण को दृष्टि में रखकर प्रयुक्त है। जहाँ स्त्री का अपराध हो जाता है पुत्रोत्पादक जार का भी पुत्र दिखलाई पड़ता है। स्त्री को पति और उपपति दोनों से पुत्रोत्पत्ति हो सकती है इसलिये स्वकीय जन्म कैसा है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। इस अभिप्राय से प्रयुक्त होने के कारण यह

प्रायेण प्रयुक्तत्वात् नास्ति तत्र दृष्टविरोधः। न हि तत्र दृश्यमानं स्वब्राह्मण्यमपवदितुं 'न चैतद् विद्मः' इत्युपन्यस्तम्।

स्त्र्यपराधत् कर्तुश्च पुत्रदर्शनात्' (जै० १।२।१३) इति।

अर्थवाद-वाक्य दृष्ट से विरुद्ध नहीं है। अपने प्रत्यक्ष ब्राह्मणत्व का निषेध करने के लिये 'न चैतद् विद्मः' यह अर्थवाद-वाक्य उपन्यस्त नहीं किया गया है।

शारदी—स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् (१।२।१३) 'नचैतद्विद्मो वयं ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा" इस अर्थवाद में भी दृष्ट विरोध प्रदर्शित किया है, किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि "प्रवरेप्रव्रियमाणे ब्रूयात् देवाः पितरः" (मै० सं० १।४।११) प्रवर के कथन के समय देवाः पितरः इत्यादि कहना चाहिये यह इस विधि वाक्य का शेष या अङ्ग होता है, आशय यह है कि यजमान यदि देवा पितरः पितरो देवा योस्मि सन् यजे योऽस्मि सन् करोमि" इस मन्त्र में प्रवर अनुमन्त्रित करे, ऐसी स्थिति में अब्राह्मण भी ब्राह्मण हो जाता है। इस प्रकार इसके द्वारा प्रवर अनुमन्त्रण की प्रशंसा की गई। किन्तु ब्राह्मणत्वादि की अज्ञेयता विवक्षित नहीं है, कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि प्रत्यक्ष सिद्ध है, ब्रह्मणत्वादि जाति जन्म के अनुसार है, गुण के अनुसार नहीं है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। शास्त्रकारों के अनुसार गोत्व आदि जाति के समान ब्राह्मणत्वादि जाति भी प्रत्यक्षगम्य एव जन्मगत है। यदि ब्राह्मणत्वादि जाति को जन्मगत नहीं माना जाय तब दृष्ट विरोध, शास्त्रविरोध, अन्योऽन्याश्रय, अव्यवस्था एवं एक साथ वृत्तिद्वय-विरोध आदि अनेक दोषों की सम्भावना है। ब्राह्मणत्वादि जाति जन्मगत है, अन्यथा विरोध होगा। "अष्टवर्षब्राह्मणमुपनयीत" आठ वर्ष के ब्राह्मण पुत्र को ब्राह्मण कह कर उल्लेख किया गया है। यदि जन्मगत जाति न मानी जाय तो इसकी असङ्गति होगी, कारण, आठ वर्ष के बालकों में साधारण तया ब्राह्मणोचित किसी भी गुण की अभिव्यक्ति नहीं होती है। क्षत्रिय एवं वैश्य के प्रसंग में भी इसी प्रकार उपनयन की अवस्था का निर्णय किया गया है। यदि जाति को जन्मगत नहीं माना जाय तो इन शास्त्रवचनों के साथ विरोध होगा। ब्राह्मणत्वादि जाति को आचार से जन्य मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि, जहाँ चारों वर्णों के आचार के विषय में उपदेश दिया गया है, वहाँ ब्राह्मणत्वादि जाति का परिचय देना

शास्त्र का उद्देश्य नहीं था, किन्तु, आचार के विधान में ही शास्त्र का तात्पर्य है। अतः जो व्यक्ति ऐसे आचार से सम्पन्न है, वह ब्राह्मण है, इसमें शास्त्र का तात्पर्य नहीं है। क्योंकि धर्म के प्रतिपादन करने में ही शास्त्र का उद्देश्य है। ऐसी स्थिति में वैसा आचार करने पर ब्राह्मण होगा, और ब्राह्मणत्व पूर्व से सिद्ध रहने पर ही वे आचार अनुष्ठेय होंगे, इस प्रकार ब्राह्मणत्व एवं आचार दोनों की उत्पत्ति परस्पर सापेक्ष होने से अन्योऽन्याश्रय दोष है, क्योंकि, ब्राह्मणत्व आदि पूर्व से सिद्ध न रहे तो उसको उद्देश्य कर किसी आचार का विधान सम्भव ही नहीं है। जाति को जन्मगत न कहकर आचार जन्य मानने पर अव्यवस्था भी होगी, क्योंकि, एक ही व्यक्ति कभी सदाचार करता है एवं कभी दुराचार या कदाचार करता है, अतः, सदाचार के समय वह ब्राह्मण और दूसरे ही क्षण कदाचार करने के समय शूद्र होगा। इस प्रकार एक ही व्यक्ति में ब्राह्मणत्वादि कभी व्यवस्थित नहीं रहेगा, पुनः-पुनः जाति का परिवर्तन होगा। ऐसी स्थिति में वह ब्राह्मण है या ब्राह्मणेतर इसका प्रमाण देना संसार में दुर्लभ हो जायेगा। फलतः, शास्त्रीय विधि के अनुष्ठान का लोप हो जायेगा। इसी प्रकार युगपत् वृत्तिद्वय का विरोध भी होगा, कारण एक ही व्यक्ति एक ही प्रयत्न से ऐसा कर्म कर सकता है कि जिसके फलस्वरूप किसी का अनिष्ट और किसी का इष्ट होगा। इसे युगपत् पर पीड़ा और परानुग्रह करने से उनमें शूद्रत्व एवं ब्राह्मणत्व दो विरुद्ध जातियों का एक साथ समावेश होगा। इत्यादि।

पूर्वप्रसङ्ग में जाति की दुर्ज्ञेयता को लक्ष्य कर "न चैतद् विद्मः" इत्यादि वाक्य में उस विषय का अज्ञान कहा गया है। जाति दुर्ज्ञेय है, कारण, गोत्वादि जाति के प्रत्यक्ष में जैसे अनेक इतिकर्तव्यता या सहकारी रहते हैं, वैसे ही ब्राह्मणत्वादि जाति के प्रत्यक्ष में भी उत्पादन कर्ता की जाति का स्मरण करना इतिकर्तव्यता या सहकारी है। उत्पादक कौन है, इसको जननी को छोड़कर कोई भी नहीं कह सकता है। स्त्रियों में दुश्चरित्रा भी रहती हैं। इसलिये, पति ही सभी पुत्रों का जनक है, यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जारजरमणी जार से पुत्र की उत्पत्ति कर सकती है। पिता एवं माता की समान जातीयता ही जाति की विशुद्धि का कारण है; अन्यथा माता अन्य जाति

यदपि शास्त्रीयदर्शनविरोधाय उदाहृतम्; 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा न वा' इति । तत्र उत्तरं सूत्रयति—

का और पिता दूसरा जाति का होने पर पुत्र की जाति अश्वतर के समान शंकर हो जायेगी। इस प्रकार वर्णसङ्करता जिससे न हो इसी लिये श्रुति कह रही है कि "अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनम्" हे रमणियों ! तुम सब असावधान न होकर अर्थात् यत्नपूर्वक इस जाति रूप तन्तु की रक्षा करो । क्योंकि; जाति का आश्रय स्वरूप व्यक्ति का असाङ्कर्य्य या शुद्ध वर्णता तुम्हारे ही अधीन है। इस प्रकार श्रुतियाँ स्त्रियों को व्यभिचारिता रूप अपराध को जाति की उच्छेद का कारण कह रही है। अन्यथा जाति-तन्तु पितृ परम्परा क्रम में सनातन होने से निश्चित ही है। अतः किसी स्त्री की ऐसी दुश्चरित्रता के कारण एवं उत्पादक क्या है. यह जननी को ही प्रत्यक्षगम्य होने से विशुद्ध जन्मा व्यक्ति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में संशय होने पर जाति प्रत्यक्ष में भी संशय होगा, क्योंकि, उत्पादक के जाति का स्मरण भी जाति प्रत्यक्ष का सहकारी कारण है। इस प्रकार जाति प्रत्यक्षगम्य होने पर भी जाति के विषय में संशय होना अस्वाभाविक नहीं है। इसी संशय को लक्ष्य कर इस स्थल में मैं ब्राह्मण या अब्राह्मण, यह नहीं जानता हूं, इस प्रकार कहा गया है, किन्तु यह प्रवरानुमन्त्रण विधि का शेष या अङ्ग होने से इसके द्वारा प्रवरानुमन्त्रण की इस इस प्रकार प्रशंसा की गई है कि प्रवरानुमन्त्रण का ऐसा ही सामर्थ्य है कि ब्राह्मण या अब्राह्मण यह अनिश्चत रहने पर भी इसके द्वारा वरणीय व्यक्ति ब्राह्मण के रूप में अवधारित होगा । अतः, इसमें प्रत्यक्ष विरोध दोष नहीं है।

"स्त्र्यपराधात्" स्त्रियों के अपराध से अर्थात् दोष से; 'कर्तुः कर्ता = उत्पादक कर्ता जार का 'च'—भी "पुत्रदर्शनम्" पुत्र होता है, ऐसा देखा जाता है। दुष्ट स्त्रियों के दोष से उत्पादन कर्ता अर्थात् उपपति से भी पुत्र की उत्पत्ति होती है, अतः, नचैतद्विद्म" इत्यादि कथन में दृष्ट विरोध नहीं है।

अर्थ—शंकापक्ष ने शास्त्रीय दर्शन के साथ विरोध दिखाने के लिये 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिंल्लोकेऽस्त वा न वा' यह उदाहृत किया था इसका उत्तर सूत्रित करते हैं--

'आकालिकेप्सा' (जै० १।२।१४) इति ।

'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' (तै० सं० ६।१।१।१) इति प्राचीनवंशस्य द्वारविधिः । तस्य शेषोऽयं, 'को हि तद् वेद' इति । धूमाद्युपद्रवपरिहारेण प्रत्यक्षेण फलेन द्वारविधिः स्तूयते । स्वर्गप्राप्तिरूपं तु फलमाकालिकम् । अकाले भवमाकालिकं विप्रकृष्टकालीनम्, न तु इदानीन्तनमित्यर्थः । तस्य ईप्सा प्राप्तुमिच्छा । सा च 'को हि तद् वेद' इति अनिश्चयोपन्यासे कारणम् । यथा भाविकालीनः पौत्रप्रपौत्रादिवृत्तान्तो निश्चेतुं न शक्यते, तद्वत् स्वर्गप्राप्तिर्भाविकालीनेति गुणयोगादनिश्चयोपन्यासः । धूमादिपरिहारस्तु प्रत्यक्षत्वात् निश्चित इत्यभिप्रायः ।

'आकालिक फल को प्राप्त करने की इच्छा' । 'दिक्ष्वतीकाशान् करोति' यह प्राचीन वंश नामक यज्ञमण्डप के द्वार के निर्माण की विधि है । 'को हि तद्वेद' यह द्वार-विधि का शेष है । धूमादि उपद्रवों के परिहाररूप प्रत्यक्ष फल द्वारा द्वार-विधि की प्रशंसा की गई । स्वर्ग प्राप्ति रूप फल तो आकालिक है । अकाल में होने वाले को आकालिक कहते हैं अर्थात् भविष्य में बहुत बाद में होनेवाला, तत्काल में न होनेवाला है । उस आकालिक फल को प्राप्त करने की इच्छा ही आकालिकेप्सा है, और यह इच्छा ही 'को हि तद् वेद' में प्रतिपादित अनिश्चय का कारण है । जिस प्रकार भविष्य काल में होने वाले पौत्र प्रपौत्र आदि के वृत्तान्त का निश्चय नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भविष्य में होने वाले वाली स्वर्गप्राप्ति का भी निश्चय नहीं किया जा सकता । इसी गुण के कारण अर्थवाद वाक्य में अनिश्चय का उपन्यास किया गया है । धूम आदि का परिहार तो प्रत्यक्ष होने से निश्चित है, यह अभिप्राय है ।

शारदी--आकालिकेप्सा (१।२।१४)—शास्त्रीय दृष्ट विरोध के दृष्टान्त में "को हि तद् वेद" (तै० सं० ६।१।१।१) इस वेद वाक्य का उल्लेख किया है । यह वाक्य "दिक्ष्वतीकाशान् करोति" (तै० सं० ६।१।१।१) का अवशिष्ट अंश है । (दिशाओं में अवकाश या द्वार रखना चाहिये) यह विधि प्राचीन वंश नामक यज्ञशाला में अवकाश या द्वार रखने के लिये दिशा के नियम के लिये

यदप्यन्यत् दृष्टविरोधाय उदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' (ता० म० ब्रा० २०।१६।६) इति । तत्र उत्तरं सूत्रयति—

कहा गया है। श्रौत-सूत्रकार महर्षि कात्यायन ने अग्निष्टोम याग के स्थान निरूपण के प्रसंग में अन्य श्रुतियों की प्रत्यालोचनापूर्वक प्रत्येक "प्रतिदिक् द्वारम्" (का० सू० ७।३।१७) से शंकापक्ष कर "उदग्वर्जं वा" (७।३।१८) के द्वारा सिद्धान्त प्रदर्शित किया है। उत्तर दिशा को छोड़कर अन्य दिशाओं में द्वार रहेगा। यज्ञशाला यज्ञाग्नि से उत्पन्न धूम से व्याप्त हो जाता है, यदि धूओं के निकलने का मार्ग नहीं रहेगा तो ऋत्विजों को बहुत कष्ट होगा, अतः "कोनु तद् वेद" इत्यादि अर्थवाद से सुदूर काल में होने वाले पारलौकिक सुख का निर्देशन न कर उपस्थित धूम से उत्पन्न दुःख से छुटकारा पाने के लिये अवकाश या धुँआ के निकलने के मार्ग का रखना उचित है—व्यक्त किया है। द्वार का निर्माण स्वतन्त्र रूप में अपनी इच्छा के अनुसार करना ठीक नहीं है, अपितु विधि-विहित रूप में ही द्वार निर्माण करना चाहिये। अतः यह अर्थवाद आकालिकेप्सा = इस समय सुख प्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न है। प्रकृत में दुख परिहार को ही औपचारिक रूप में सुखलाभ कहा गया गया है। काल = चिरकाल का बोधक है। कारण, इसी अर्थ में काल शब्द का प्रयोग देखा गया है। जैसे बहुत दिनों के वाद होने वाले फल को लक्ष्य कर व्यवहार में लोग कहते हैं कि समय पर इसका फल होगा। अतः, अकाल का अर्थ पूर्ववर्ती काल नहीं अपितु वर्तमान या तत्काल होता है। अकाल अर्थात् तत्काल में उत्पन्न आकालिक होता है (अकाले भावः आकालिकः वर्तमान काल में उत्पन्न सुख की लिप्सा ही आकालिकेप्सा है। इस प्रकार आकालिकेप्सा शब्द का अर्थ तात्कालिक सुख प्राप्ति की अभिलाषा होता है। अर्थात् आकालिक = तात्कालिक = उसी समय, ईप्सा सुखलाभ या दुःख परिहार की अभिलाषा या इच्छा है। "को हि तद् वेद" परलोक में सुख है या नहीं, इसको कौन जानता है, फलतः तात्कालिक सुख प्राप्ति और दुख के परिहार की इच्छा में प्रवृत्ति भी स्वाभाविक है।

'विद्याप्रशंसा' (जै० १।२।१५) इति।

सोऽयं गर्गत्रिरात्रविधेः शेषः। तद्विषयं वेदनमपि मुखशोभाहेतुः, किमुत अनुष्ठानमिति स्तूयते। यथा कर्णाभरणादिना मुखं शोभितं भवति, एवं वेदितुरुत्साहेन विकसितं वदनं शोभितमिव शिष्यैरुद्वीक्ष्यते। अतः शोभासादृश्यगुणयोगात् 'शोभते' इत्युच्यते।

यदप्यन्यद् विरोधाय उदाहृतम् 'आस्य प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' इति सोऽपि वेदानुमन्त्राणविधेः शेषः। अत्रापि कैमुतिकन्यायेन स्तुतिः पूर्ववद् योजनीया। वेदितुः पुत्रः पितृशिक्षया स्वयमपि विद्वान् भवति, ततः प्रतिग्रहणे अन्नं प्राप्नोति। तस्मादीदृशं गुणमभिप्रेत्य 'वाजी जायते' इत्युक्तम्।

अर्थ—यह जो दूसरी शंका दृष्ट विरोध प्रदर्शन प्रसङ्ग में "शोभतेऽस्य मुख य एवं वेद" (ता० म० ब्रा० १।२।२५) इस अर्थवाद वाक्य को फलहीन सिद्ध किया है। इसकी असङ्गति प्रदर्शित करते हुए जैमिनि ने "विद्याप्रशंसा" इस सूत्र को लिखा है। पूर्वोक्त अर्थवाद की फलहीनता का प्रदर्शन १।२।१५ सङ्गत नहीं है। क्योंकि, यह गर्गत्रिरात्रविधि का शेष वाक्य है. गर्गत्रिरात्र यज्ञ का जान लेना भी मुखशोभा का कारण होता है, उसके अनुष्ठान का तो कहना ही क्या है। इसके द्वारा उसी विधि की प्रशंसा की गई है। संसार में ऐसा देखा जाता है कान के अलङ्कारों से मुख शोभायमान होता है। उसी प्रकार यज्ञ के जानने वाले विद्वान् व्यक्ति का मुख उत्साह सम्पन्न होने से विकसित मुखमंडल शिष्यों के द्वारा सुशोभित देखा जाता है। जिस विषय का ज्ञान ही शोभा का साधन होगा, उस विषय का अनुष्ठान और भी शोभा का हेतु होगा। इस तरह विधि विहित कर्मों की ही प्रशंसा इस अर्थवाद से की गई है।

इसी प्रकार और भी विरोध के उदाहरण दिया है "आस्य (आ अस्य) प्रजायां वाजी जायेत, य एवं वेद" यह अर्थवाद वाक्य भी वेदनानुमन्त्रण विधि का शेष है। यहां पर भी पहले की तरह कैमुतिक न्याय से स्तुति की योजना कर लेनी चाहिये। जिस घर में सदा अध्ययन आदि चलता रहता है, उस घर में जिस पुत्र का जन्म होता है, वह भी बाल्यावस्था से शास्त्रालाप सुनकर स्वभावतः मेधावी एवं विद्वान् हो जाता है, और विद्वान् होने पर

यदप्यन्यानर्थक्याय उदाहृतम्, 'पूर्णाहुत्या सर्व्वान् कामान् अवाप्नोति' इति उत्तरं सूत्रयति—

'सर्व्वत्वमाधिकारिकम्' (जै० १।२।१६) इति।

'पूर्णाहुतिं जुहुयाद्' इत्यस्य विधेः शेषोऽयम्। सर्व्वकामावाप्तिहेतुत्वात् प्रशस्तेयमाहुतिरिति स्तूयते। यथा सर्व्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्व्वत्वं स्वगृहागतब्राह्मणविषयम्। एवं पूर्णाहुत्या कर्मसाङ्गत्वे यत् फलं तस्मिन् अधिकारे प्रस्तावे संभावितं तद्विषयमेव सर्व्वत्वं द्रष्टव्यम्। पूर्णाहुतेरभावे सति आधानरूपं कर्म्म अङ्गविकलं भवति। तच्च वैकल्यं पूर्णाहुत्या समाधीयते इत्येवः कामः। तस्मिन् समाहिते सति आहवनीयाद्यग्नयोऽग्निहोत्रादिकर्म्मसु योग्या भवन्ति

सभी व्यक्ति उसको सत्पात्र गुणी-समझ कर दान मिलने पर वह प्रचुर अन्न प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार गुण को लक्ष्य करके ही यह कहा गया है—

विद्याप्रशंसा—विद्या की प्रशंसा। इसका मुख शोभायमान होता है इत्यादि वाक्य में जो कहा गया है; वह विद्या की प्रशसा है।

'अन्यानर्थक्यात्'—इस पूर्वपक्षके सूत्र की व्याख्या में "पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानाप्नोति" इस अर्थवाद वाक्य का उल्लेख कर विध्यन्तर का आर्थक्य वाक्य समर्थित किया गया है, किन्तु वह भी ठीक नहीं है।

इसका समाधान उत्तर सूत्र से कर रहे हैं—क्योंकि 'सभी ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय' यह कहने पर निमन्त्रित या घर पर आये हुए सभी ब्राह्मणों की अवगति होती है। वैसे ही पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानाप्नोति' यह "पूर्णाहुतिं जुहुयात्" इस विधि का शेष है अत इस अधिकरण में उल्लिखित सभी कर्म साङ्गत्व जो फल सम्भावित है उस विषय का है सर्वत्व विवक्षित है। पूर्णाहुति के अभाव में आधान-रूप कर्म अङ्ग-विकल होगा, उस अङ्ग-विकलता का पूर्णाहुति से समाधान होता है; यह एक काम है। उसका समाधान होने पर आहवनीय आदि अग्नियाँ अग्निहोत्री आदि कर्मों के योग्य होती हैं—यह दूसरा काम है। उन कर्मों से तत्-तत् कर्मफल प्राप्त होते हैं—यह अन्य काम है। इस तरह सभी कामनाओं की प्राप्ति अन्य आहुतियों

इत्ययमन्यः कामः। तैश्च कर्म्मभिस्तत् तत् फलं प्राप्यते इति कामान्तरम्। ईदृशी सर्व्वकामावाप्तिराहुत्यन्तरेष्वपि विद्यते इति चेत्? विद्यतां नाम। किं नश्छिन्नम्? न खलु एतावता पूर्णाहुतिस्तुतेः काचिद् हानिरस्ति।

ननु पूर्णाहुतेरङ्गभावत्वात् तदीयफलश्रुतेरर्थवादत्वेन स्तावकत्वं भवतु,

द्रव्यसंस्कारकर्म्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः (जै० ४।३।१) इति सूत्रेण निर्णीतत्वात्। पशुबन्धवाक्यस्य तु कर्म्मविधायकत्वात् सर्व्वलोकाभिजयस्य मुख्यफत्वाद् अन्यानर्थक्यं दुर्वारम् इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति--

'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः सारसो वा फलविशेषः स्यात्।' (जै० १।२।१७) इति।

से भी कहीं गई है? इसके उत्तर में कहा गया है कि इसमें हानि क्या है? इससे पूर्णाहुति की स्तुति की कोई हानि नहीं है।

शारदी--(विशेष में स्थल अन्य अविकार में भी कामना का प्रसङ्ग हो सकता है। और इस प्रकार विद्यान्तर का भी आनर्थक्य नहीं हो सकता है। अन्य स्थल में जहाँ "सभी कामनाएँ सिद्ध होती हैं। 'इस प्रकार के वचन कहे गये हैं, वहाँ भी इसी प्रकार समझना चाहिए।)

अर्थ--पूर्णाहुति के अङ्गकर्म होने से उसकी फलश्रुति अर्थवाद के रूप में विधिवाक्य की प्रशंसा करने वाली हो सकती है, जैसा कि जैमिनि ने 'द्रव्यसंस्कार कर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः' इस सूत्र से निर्णय किया है। पशुबन्धयागवाक्य तो मुख्य कर्म का विधायक है, जिससे सर्वलोक जय भी मुख्य फल है। इसलिये पशुबन्ध-याग से समस्त फल प्राप्त हो जाने से अन्यकर्म वृथा हो जाते हैं इसका निवारण नहीं किया जा सकता। इस आशङ्का का उत्तर सूत्र से देते हैं--

'कर्म की निष्पत्ति से फल होता है लोक की तरह उन कर्मों के परिमाण तथा सार से फल में भी विशेषता आ जाती है'।

पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अन्यतमं लोकभिजयरूपं फलं पशुबन्धकर्मणा निष्पाद्यते। तेषां च पृथिव्यादीनां कर्म्मान्तरेण परिमाणाधिक्यं सारत्वं वा सम्पद्यते। ततः फलविशेषः स्यादिति नास्ति आनर्थक्यम्। लोकवदित्युक्तार्थे दृष्टान्तः। यथा लोके निष्केण खारोपरिमितान् व्रीहीन् विक्रीय निष्कान्तरेण पुनः क्रये सति परिमाणाधिक्यं भवति, यथा निष्केण वस्त्रमात्रं लभ्यते निष्कद्वयेन तु सारभूतः दुकूलम्। तथा भोगाधिक्यं भोगसारत्वं वा कर्म्मान्तरेण द्रष्टव्यम्। ब्रह्महत्याया अपि मानस्याः स्वल्पाया वेदनमात्रेण तरणम्। कायिक्यास्तु महत्या अश्वमेधेन, इति नास्ति अन्यानर्थक्यम्।

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इनमें से अन्यतम पर विजय रूप फल पशुबन्ध कर्म द्वारा निष्पन्न होता है और कर्मान्तर उन पृथ्वी आदि फलों का प्रमाणाधिक्य एवं सारत्व सम्पन्न होता है। इसलिये अन्य कर्मों के फल में वैशिष्ट्य आ जाता है इसलिये वह अनर्थक नहीं है। उक्त अर्थ में दृष्टान्त है। जिस प्रकार लोक में एक निष्क के द्वारा खारी परिणाम विशेष से व्रीहि को खरीद कर पुनः अन्य मुद्रा द्वारा धान खरीदने पर धान के परिमाण का आधिक्य हो जाता है, अथवा जिस प्रकार एक निष्क के द्वारा केवल साधारण वस्त्र प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार अन्य कर्मों से भोग का आधिक्य अथवा भोग का सारत्व समझना चाहिए। ब्रह्महत्या यदि मानसिक ही है तो वह स्वल्प है और अश्वमेध के ज्ञानमात्र से ही ऐसी ब्रह्महत्या से मुक्ति मिल जाती है किन्तु यदि ब्रह्महत्या कायिक है अर्थात् वास्तव में की गई है तब तो वह बहुत बड़ी है और अश्वमेधयागानुष्ठान से ही मुक्ति मिल सकती है। इस प्रकार अन्य कर्मों का आनर्थक्य नहीं होता।

शारदी—फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फलविशेषः

कर्म के परिमाण के अनुसार फल की अल्पता और आधिक्य होता है। निरूढ़ पशुबन्धन नामक यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है एवं ज्योतिष्टोम दर्श पूर्णमास आदि कर्मों से भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार अश्वमेध विषयक ज्ञान से ब्रह्महत्या आदि पापों से छुटकारा मिलता है, एवं

अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान से भी ब्रह्महत्या आदि पापों की अनिवृत्ति होती है, किन्तु ये सभी एक प्रकार के नहीं हैं। अल्प परिश्रम साध्य कर्म से किस स्वर्ग की आप्ति होती है, वह भिन्न प्रकार एवं उसका स्थायित्व भिन्न जातीय होता है, एवं अधिक परिश्रम से साध्य कर्म से स्थायित्व भी भिन्न है। इसलिये तैत्तिरीय संहिता "उच्चावचकर्म्मणामेकविधफलासम्भवात् स्वर्गो बहुविध:," स्वल्प और महत् कर्म से एक प्रकार का स्वर्ग रूपी फल नहीं हो सकता है, अत: स्वर्ग अनेक प्रकार का है, जो व्यक्ति जिस प्रकार का कर्म करता है उस कर्म के परिणाम के अनुसार स्वर्ग का भोग भिन्न प्रकार का होता है। जैसे एक कपड़ा पांच रुपये का खरीदा जा सकता है और एक रुपया का भी कपड़ा खरीदा जा सकता हैं, किन्तु कपड़ा होने पर भी उनमें बहुत भेद है। इसी तरह कर्म की स्वल्पता और महत्त्व के अनुसार स्वर्गभोग अल्पकाल स्थायी एव अधिक काल स्थायी होता है। नरक के भोग का भी यही नियम है। इसी प्रकार कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से ब्रह्महत्या अनेक प्रकार की है। मन में ब्रह्महत्या की कल्पना करने वाले व्यक्ति को जो पाप होता है वह अश्वमेध विषयक ज्ञान से निवृत्त होता है एवं ब्रह्महत्या का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति के पाप का यज्ञ के अनुष्ठान से ही मुक्ति होती है। समान फल का निर्देश रहने पर भी प्रकार में भेद रहता है। यह केवल युक्ति के आधार पर नहीं है, वरन् चातुर्मास्य सोम प्रकरण में जो अर्थवाद कहा गया है, उससे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। "यदग्निहोत्रं जुहोत्यथ दश गृहमेधिनं आप्नोत्येकया रात्रिया" इत्यादि क्रम में गृहमेधी अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि एक-एक याग के समान है, अत: स्वल्पायास अथ वा बहु आयास साध्य अनेक कर्मों का एक प्रकार के फल आ श्रवण रहने पर भी असामञ्जस्य का अवकाश नहीं हैं।

फलस्य=फल का, कर्मनिष्पत्ते:=कर्म के द्वारा निष्पत्ति होने से, तेषां=कर्म फलों का, परिणामत:=परिणाम के अनुसार, फल विशेष:=फल का अल्पता या आधिक्य, स्यात्=होता है। लोकवत्=लौकिक दृष्टान्त के अनुसार लोक व्यवहार में। जैसे भूमि का स्वल्पकर्षण एवं अधिक कर्षणरूप परिमाण के अनुसार कृषि आदि फल की अल्पता फल का तारतम्य होता है, क्योंकि कर्म के द्वारा ही फल की निष्पत्ति होती है।

योऽपि, 'नान्तरिक्षे न दिवि' इत्यप्रसक्तप्रतिषेध उदाहृतस्तथा 'बबरः प्रवाहणिः' इत्यनित्यसंयोग उदाहृतस्तत्र उभयत्रोत्तरं सूत्रयति–

'अन्त्ययोर्यथोक्तम् ।' (जै० १।२।१८) इति ।

अन्त्योदरुदाहरणयोरुत्तरं पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यम् । अन्तरिक्षादौ चयननिन्दारूपोऽर्थवादो 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' (तै० सं० ५।२।७।१) इत्यस्य विधेः दोषः । अतोऽत्र 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्युक्तमेव उत्तरम् । अन्तरिक्षे चयनप्रसक्त्यभावात् तन्निन्दा नित्यानुवादोऽस्तु । तेनापि विधिः स्तोतुं शक्यते, नित्यसिद्धार्थानुवादिना वायोः क्षेपिष्ठत्वेन पशुविधेः स्तुतत्वात् । 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इत्यत्रापि बबरनामकः कश्चिदनित्यः पुरुषो मनुष्यो न विवक्षितः, किन्तु बबरध्वनियुक्तः प्रकर्षेण वहनशीलो वायुर्व्यवहारदशायां नित्य एव अर्थो विवक्षितः—इत्येतदुत्तरं प्रथमपादस्य अन्तिमाधिकरणे प्रोक्तम् ।

अर्थ ;—अर्थवाद में अप्राप्त के निषेध को दिखाने के लिये 'अन्तरिक्ष में' नहीं द्युलोक में नहीं' यह जो उदाहृत किया था तथा अर्थवाद में अनित्यसंयोग को दिखाने के लिये 'बबरः प्रावाहणिः' इसका उदाहरण दिया था, इन दोनों कारण उत्तर सूत्रित करते हैं—'अन्त के दोनों शङ्कापक्षों का समाधान, जैसा पहले कह चुके हैं वैसा ही जानना चाहिये ।'

अन्तिम दो उदाहरणों का उत्तर दिया जा चुका है । अन्तरिक्ष आदि में अग्निचयन की निन्दा के रूप में जो अर्थवाद है वह 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' इस विधि-वाक्य का शेष है । 'स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इसके द्वारा अर्थवादों का उत्तर पहले दिया जा चुका है । अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्निचयन नहीं हो सकता है इसलिये अर्थवाद-वाक्य में अन्तरिक्ष लोक तथा द्युलोक में अग्निचयन की निन्दा की गई है वह नित्य का अनुवाद है । नित्य के अनुवादक इस अर्थवाद वाक्य के द्वारा विधि की प्रशंसा वैसे ही हो सकती है जैसे 'वायव्यं श्वेतमालभेत' इस पशुविधि की प्रशंसा 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' इस अर्थवाद वाक्य में वायु को क्षिप्रगामी देवता कहकर की गई है । यह वाक्य पशुविधि की प्रशंसा करता है, यद्यपि इसमें वायु के नित्यगुण-क्षिप्रता का ही अनुवाद है । इस प्रकार नित्य के

तस्मात् सम्भावितदोषाणां परिहृतत्वात् अर्थवादानामस्ति प्रामाण्यम् ।

तत्र संग्रहश्लोकाः—

वायुर्वा इत्येवमादेरर्थवादस्य मानता ।
न विधेयेऽस्ति धर्मे किं किं वासौ तत्र विद्यते ॥

अनुवाद द्वारा भी प्रशंसा हो जाती है । 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इस अर्थवाद वाक्य में बबर नामक कोई अनित्य पुरुष विवक्षित नहीं है. किन्तु बबर-शब्दनियुक्त तथा तेजी से बहने वाला वायु की व्यवहार-दशा में नित्य ही अर्थ विवक्षित है यह उत्तर प्रथम पाद के अन्तिम अधिकरण में दिया जा चुका है ।

शारदी—अन्त्योर्यथोक्तम् (१।२।१८)—अप्रसक्त का प्रतिषेध होने से "नान्तरिक्षे अग्निश्चेतव्यः" इत्यादि अर्थवाद वाक्य अप्रामाणिक हैं, इस प्रकार की आपत्ति के परिहार के लिये "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्" इत्यादि सूत्रों को कहा गया है । "नान्तरिक्षे अग्निश्चेतव्यः" इत्यादि अर्थवाद "हिरण्यं निधाय चेतव्यम्" (तै० सं० ५।२।६।१) अर्थात् स्वर्ण रखकर उसके ऊपर अग्नि का चयन करना चाहिये, यह विधि का शेष या अङ्ग है । अन्तरिक्ष में चयन निषेध नित्यानुवाद अर्थात् नित्यसिद्ध विषय का कथन मात्र है । क्योंकि अन्तरिक्ष में या द्युलोक में अग्नि के चयन की सम्भावना नहीं है, "बबरः प्रावहणिः" इत्यादि वाक्यों का दृष्टान्त देकर जो अप्रामाण्य की आशङ्का की गई है, वह भी संगत नहीं है, क्योंकि जननमरणशील किसी व्यक्ति के विषय में यह नहीं कहा गया है "स्वयं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (मी० द० १।१।३१) इस सूत्र में कहा गया है । इसलिये अर्थवाद वाक्यों के प्रामाण्य स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है ।

अर्थ :—इसलिये संभावित दोषों का परिहार हो जाने से अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध हो गया है । इस संदर्भ में संग्रह श्लोक हैं—'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवादों का विधेय धर्म में प्रामाण्य है ? विधिवाक्य तथा अर्थवादवाक्य के शब्द एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते हैं इन दोनों में एकवाक्यता नहीं होती । इसलिये अर्थवाद-वाक्यों का धर्म में प्रामाण्य कैसे सम्भव हो सकता

विध्यर्थवादशब्दानां मिथोऽपेक्षापरिक्षयात् ।
नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं सम्भवेत् कुतः ॥
विध्यर्थवादौ साकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः ।
तेनैकवाक्यता तस्माद् वादानां धर्ममानता ॥
(जै० न्या० मा० १।२।१) इति ।

तदेवं वेदे विद्यमानानां त्रयाणां मन्त्रविध्यर्थवादभागानाम् अप्रामाण्ये कारणाभावाद् बोधकानां तेषां प्रमाणस्य स्वतस्त्वाङ्गीकाराच्च कृत्स्नस्यापि वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ।

वेदस्य पौरुषेयत्वनिरसनपुरःसरमपौरुषेयत्वसिद्धिः—

ननु एवमपि वेदस्य पौरुषेयत्वेन विप्रलम्भकवाक्यवद् अप्राण्यं स्यात् । पौरुषेयत्वंच प्रथमपादे पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिः सूत्रयामास—

है ? (ऐसा शङ्कापक्षी का कहना है) । विधि और अथवाद साकाङ्क्ष होते हैं । विधि-वाक्य की स्तुति और अर्थवाद वाक्य को पुरुषार्थ की आकांक्षा होती है । अर्थवाद विधि की स्तुति करके उसकी आकांक्षा को पूरी कर देता है और अर्थवाद की पुरुषार्थ की आकांक्षा विधि के द्वारा पूरी हो जाती है, इस प्रकार परस्पर साकांक्ष होने से विधि और अर्थवाद की एकवाक्यता सम्पन्न हो जाती है । इसलिये अर्थवादों का धर्म में प्रामाण्य स्थापित हो जाता है, सिद्धान्त पक्ष के अनुसार इस प्रकार वेद में विद्यमान मन्त्र, विधि और अर्थवादों के अप्रामाण्य में कारण न होने से इन तीनों के बोधक वाक्यों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करने से सम्पूर्ण वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है ।

वेदापौरुषेयत्वविचार—

सायण ने वेद को पौरुषेय बताते हुए यह आशङ्का की है कि वेद को पौरुषेय मानने पर जैसे पुरुष के वाक्य अप्रामाणिक होते हैं वैसे ही पुरुष प्रणीत होने के कारण ये भी अप्रामाणिक होंगे, क्योंकि अनेक ऐसे वाक्य लोक में कहे जाते हैं जो ठगने के लिये होते हैं । वेद के अप्रामाणिक होने पर स्वभावतः वेद की अनर्थकता सिद्ध हो जायेगी । इस प्रसंग में सायण ने अपनी भाष्यभूमिका में जैमिनि-प्रणीत मीमांसा सूत्रों को उद्धृत कर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ।

'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुसाख्या' (जै० १।१।२७।३२) इति ।

एके वादिनो वेदान् प्रति सन्निकर्षं मन्यन्ते । कालिदासाभिर्निर्मितानां रघुवंशादिग्रन्थानां समुच्चयार्थश्चकारः । ते ह्यत्र दृष्टान्ततया समुच्चीयन्ते: यथा रघुवंशादय इदानीन्तनास्तथा वेदा अपि । न तु वेदा अनादयः, अत एव वेदकर्तृत्वे पुरुषा आख्यायन्ते । वैयासिकं भारतं वाल्मीकीयं रामायणमित्यत्र यथा भारतादिकर्तृत्वेन व्यासादय आख्यान्ते तथा कठकं कौथुमं तैत्तिरीयमित्येवं तत्तद्वेदशाखाकर्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वाद् वेदाः पौरुषेयाः ।

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या (१।१।२७) इति ।

अर्थ---कुछ आचार्यों ने वेद को पौरुषेय या आधुनिक माना है । कालिदास आदि से निर्मित रघुवंशादि ग्रंथों के संग्रह के लिये इसमें चकार का प्रयोग किया गया है । यहाँ पर रघुवंश आदि दृष्टान्त रूप में संगृहीत किये गये हैं । वेद अनादि नहीं है, क्योंकि वेद कर्ता के रूप में पुरुषों का नाम निर्दिष्ट मिलता है । वैयासिक महाभारत वाल्मीकीय रामायण इन स्थलों में जैसे महाभारत आदि के कर्ता व्यास आदि कहे गये हैं । वैसे ही काठक, कौथुम तैत्तिरीय आदि के द्वारा उन वेद शाखा के कर्ता के रूप में कठ आदि आचार्य कहे गये हैं । वेद पौरुषेय हैं ।

शारदी---वेदान्=सभी वेद; च=और, एके=कोई-कोई, सन्निकर्ष=सन्निकृष्ट कालीन अर्थात् आधुनिक या पौरुषेय (कहते हैं), पुरुषाख्या=क्योंकि पुरुष का अर्थात् मनुष्य की आख्या अर्थात् नाम निर्दिष्ट है । आशय यह है कि कोई-कोई वेद को भी सादि अर्थात् पौरुषेय मानता है क्योंकि वेद के कतिपय अंश अर्थात् काठक आदि विशेष अंश मनुष्य के नाम से प्रसिद्ध हैं । जैमिनि ने; पुरुष नाम के कारण वेद की पौरुषेयता सिद्ध नहीं हो सकती है; इसकी स्थापना के लिये इस सूत्र के द्वारा पूर्वपक्षी अर्थात् वेद के पौरुषेयत्ववादी के मत की, उपस्थापना की है । यथा रघुवंश, महाभारत आदि पदसमूहात्मक वाक्यराशि होने से पौरुषेय हैं । उसी तरह वेद भी पौरुषेय है । वस्तुतः यह अनुमान है जिसका स्वरूप इस प्रकार हो सकता है वेद (पक्ष), पौरुषेय है, पद समूहात्मक वाक्य समुदाय होने से, (हेतु) जैसे महाभारत, रघुवंश आदि । इस अनुमान

ननु नित्यानामेव सतां वेदानामुपाध्यायवत् सम्प्रदायप्रवर्त्तकत्वेन काठकादिसमाख्या स्यादित्याशङ्क्य युक्त्यन्तरं सूत्रयति—

'अनित्यदर्शनाच्च' (जै० १।१।२८) इति।

के द्वारा आपाततः वेद स्मर्यमाण-कर्तृत्व रूप उपाधि प्रदर्शन के द्वारा सकर्तृक प्रमाणित होता है। आगे इसका खण्डन भी किया जायेगा।

वेद की शाखायें काठक, पैप्पलाद, कौथुम आदि नाम से प्रसिद्ध हैं और इसी से वेद के रचयिता का नाम उपलब्ध हो रहा है। अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४।३।८७) इस पाणिनी सूत्र से यह सिद्ध होता है कि जो ग्रन्थ कठ नामक व्यक्ति के द्वारा रचित होता है उसी को काठक कहा जाता है इसी प्रकार पिप्पलाद नामक व्यक्ति के द्वारा रचित होने के कारण पैप्पलाद कहलाता है और जो कौथुम नामक व्यक्ति से रचित होता है। वह कौथुम कहलाता है। पैप्पलाद, कौथुम यह प्रकृति है और अण् प्रत्यय होने से काठक आदि शब्द निष्पन्न होते हैं। अतः समाख्या अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय घटित यौगिक शब्द से ही कठ आदि वेद के कर्ता सिद्ध होते हैं। प्रवचन या अध्यापन के आधार पर किसी व्यक्ति के नाम से उस शाखा की प्रसिद्ध नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि प्रवचन कर्ता अनेक व्यक्ति रहता है। अतः रचयिता के आधार पर ही काठकादि शब्द प्रयुक्त हुए। फलतः यह कहा जा सकता है कि काठक इत्यादि समाख्या की अन्य ढंग से उपपत्ति न होने के कारण समाख्या के आधार पर वेद की पौरुषेयता सिद्ध होती है। ये व्यक्ति आप्त ही हैं अर्थात् यथार्थ तत्त्ववेत्ता हैं यह निश्चित नहीं है। इसलिये वेद के पौरुषेय होने से वह आप्त द्वारा अप्रणीत सिद्ध होता है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि वेद नित्य है और उपाध्याय के समान कठ आदि सम्प्रदाय प्रवर्तक है तो वे शाखाए काठकादि के नामों से प्रसिद्ध हो गईं हैं। इस आशंका से वेद के पौरुषेयत्व के लिए दूसरा दोष उद्भावित किया गया है।

अनित्यदर्शनाच्च (जै० १।१।२८)

अनित्या जननमरणवन्तो बबरादयो वेदे श्रूयन्ते–'बबरः प्रवाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।१।१०।२) 'कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत' (तै० सं० ७।२।२।१) इति। तथा सति बबरादिभ्यः पूर्वमभावाद् अनित्या वेदाः। विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयम्, वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवद् इत्याद्यनुमानसमुच्चयार्थश्चकारः।

सिद्धान्तं सूत्रयति—

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० १।१।२९) इति।

'तु' शब्दो वेदानामनित्यत्वं वारयति। शब्दस्य वेदरूपस्य कठादिपुरुषेभ्यः पूर्व्वत्वम् अनादित्वं प्राचीनैरेव सूत्रैरुक्तम्। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' (जै० सू० १।१।५) इत्यस्मिन् सूत्रे 'औत्पत्तिक'-शब्देन सर्व्वेषां शब्दानां वेदानां तदर्थानां तदुभयसम्बन्धानां च नित्यत्वं प्रतिज्ञाय उत्तराभ्यां शब्दाधिकरणवाक्याधिकरणाभ्यामुपपादितत्वात्। का तर्हि काठकाद्याख्याया गतिरित्याशङ्क्य सम्प्रदायप्रवर्त्तनात् सेयमुपपद्यते इत्युत्तरं सूत्रयति—

जननमरणशील बबर आदि का नाम वेद में मिलता है 'बबरः प्रावहणिरकामयत' प्रवहण के पुत्र बबर ने कामना की। कुसुरुबिन्द औद्दालिकिरकामयत' उद्दालक के पुत्र कुसुरुविन्द ने कामना की। बबर आदि का जन्म हुआ है, अतः उनके जन्म के पूर्व वेद नहीं थे, इसलिये वेद अनित्य है। वेद वाक्य पौरुषेय है वाक्य होने से। कालिदास आदि के वाक्य के समान इत्यादि अनुमान के के संग्रह के लिये सूत्र में च शब्द का प्रयोग किया गया है।

शारदी—अनित्यदर्शनाच्च (जन्म मरणशील मनुष्य का उल्लेख होने से) च=और वेद में जन्ममरणशील अनित्य मनुष्य का विषय उल्लेखित है। अतः वेद पौरुषेय है। प्रवाहणि बबर अर्थात् प्रवहण का पुत्र बबर, औद्दालिकी कुसुरुबिन्द—उद्दालक का पुत्र कुसुरुबिन्द इत्यादि रूप में पिता और पुत्र का उल्लेख होने से वे वेद के अंश हैं। जिनमें इन लोगों का नाम निर्दिष्ट है। अतः उन वेद अंशों की रचना उनके जन्म के बाद की गई, यह अनुमान होता है।

अपौरुषेयत्व—दो सूत्रों के द्वारा वेद की पौरुषेयता प्रतिपादित कर जैमिनि ने सिद्धान्त सूत्रों की रचना की है।

'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (जै० १।१।२९)

'आख्या प्रवचनात्' (जै० १।१।३०) इति ।

अस्तु इयमाख्याया गतिः । ततः परं बबराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

सूत्र में प्रयुक्त तु शब्द से वेदों की अपौरुषेयता प्रकट होती है । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' (जै० १।१।) में जैमिनि ने 'औत्पत्तिक शब्द के द्वारा सभी शब्दों अर्थात् समस्त वेदों तथा उनके अर्थों एवं दोनों के सम्बन्धों की नित्यता दर्शाते हुए शब्दाधिकरण और वाक्याधिकरण के द्वारा इसी विषय का प्रतिपादन किया है । तब काठकादि नामों का क्या समाधान होगा ?

यह शङ्का करके सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन से यह उपपन्न होता है यह उत्तर सूत्र से देते हैं—

आख्या प्रवचनात् (जै० १।१।३०)

सूत्र में आख्या से सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों की ओर संकेत किया गया है कि कठ आदि नामों के प्रयुक्त होने का कारण यह है कि इन लोगों ने वेदों की उन-उन शाखाओं का प्रवचन किया था । किन्तु बबर आदि अनित्य का ज्ञान जो पूर्व में कहा गया है इसका क्या समाधान है इसके लिए आगे सूत्र कहा गया है ।

शारदी—आख्या=समाख्या अर्थात् पुरुष के नाम से वेद की शाखा की प्रसिद्धि, प्रवचनात्=प्रकृष्ट रूप में अर्थात् असाधारण रूप में समझने के लिये । कठ आदि व्यक्तियों ने इस शाखा को आयत्त किया था, इसीलिये उनके नाम के अनुसार प्रसिद्ध हुआ । पौरुषेयत्व का साधन करते हुए पूर्वपक्षियों ने अनुमान के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध किया था, किन्तु समाख्या के बल से यह विशेष अर्थ का सूचक हो सकता है अथवा अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध किया गया था वह भी ठीक नहीं । सामान्य रूप से वेद का सकर्तृकत्व साधन करने पर भी उसके विरुद्ध अन्य हेतु के द्वारा अकर्तृकत्व या अपौरुषेयत्व सिद्ध किया जा सकता है । इसलिये अनुमान के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं हो सकता । समाख्या के बल से अर्थापत्ति प्रमाण-मूलक वेद का पौरुषेयत्व अर्थात् सकर्तृकत्व प्रतिपादन सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य रीति से भी समाख्या का उपपादन हो सकता है । अन्य प्रकार से भी उपपत्ति या अन्य प्रकार से ही उपपत्ति ये दोनों अर्थापत्ति की बाधक होती हैं । अन्य प्रकार से जिसकी उपपत्ति

नहीं की जा सकती है वही अर्थापत्ति प्रमाण का विषय है। सम्प्रदाय की अविच्छिन्न धारा में प्रतिपादित वेद का कर्ता अवश्य स्मरणीय होगा क्योंकि कर्ता की आप्तता के आधार पर ही उसके उपदेश का प्रामाण्य सर्वथा स्थिर होता है। जिन अलौकिक विषयों के लिये संसार आजीवन अपनी सुख स्वतंत्रता का परित्याग कर आनन्द का अनुभव करता है, उसका कर्ता अवश्य स्मरणीय होने पर भी स्मृत नहीं होता तो 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस पाणिनि सूत्र का इसको विषय मानना ठीक नहीं है, क्योंकि 'तेन प्रोक्तं' इस सूत्र के द्वारा भी समाख्या की उपपत्ति हो सकती है। कठेन कृत: ग्रंथ: काठकम् यह काठक का निर्वचन न कर अर्थात् कठ के द्वारा जिस ग्रंथ का निर्माण किया जाता है वह काठक होता है यह निर्वचन न मानकर 'कठेन प्रोक्तं' कठ के द्वारा जो अधीत है, वह काठक है यह भी निर्वचन किया जा सकता है। 'कठचरकाल्लुक्' (पा० सू० ८।३।१०७) इस सूत्र के द्वारा कठ शब्द से विहित तद्धित प्रत्यय का लोप कहा गया है। अत: समाख्या का प्रवचन ही अब समर्थित होता है। अत: अन्य प्रकार से भी उपपत्ति होने से समाख्या के बल से अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वेद की पौरुषेयता सिद्ध नहीं होती है। अत: काठक का अर्थ असाधारण रूप में उस कथा का अध्ययन के कारण है। इसलिए उनके नाम से यह शाखा कही जाती है। यह प्रश्न हो सकता है कि अनेक व्यक्तियों ने इसका विशिष्ट अध्ययन किया है ऐसी स्थिति में उनका उल्लेख क्यों नहीं होता ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि कर्ता के वैशिष्ट्य का प्रकाश करना यदि उसका उद्देश्य है तो यह आपत्ति संगत होती, किन्तु वेद शाखा का विशेष निर्देश करना ही इस समाख्या का उद्देश्य होने पर यह आपत्ति संगत नहीं हो सकती है। कारण उन शाखाओं में अनेक व्यक्तियों की असाधारणता रहने पर भी किसी एक व्यक्ति के उल्लेख से ही यदि उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है तो अन्य प्रयोजन के विना स्वयं ही निवृत्त हो जाता है, जैसे दश पुत्रों की मां किसी स्त्री का परिचय देने की आवश्यकता होने पर उनमें किसी एक पुत्र के उल्लेख का ही परिचय देने से इष्ट सिद्ध होने से अन्य पुत्रों के नाम निर्देश से स्वयं निवृत्त हो जाता है। यहाँ भी यही स्थिति है। अत: अन्य प्रकार से भी उपपत्ति

'आख्या प्रवचनात्' (जै० १।१।३०) इति।

अस्तु इयमाख्याया गतिः। ततः परं ववराद्यनित्यदर्शनं यदुक्तं तस्य किमुत्तरमित्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

सूत्र में प्रयुक्त तु शब्द से वेदों की अपौरुषेयता प्रकट होती है। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः' (जै० १।१।५) में जैमिनि ने 'औत्पत्तिक शब्द के द्वारा सभी शब्दों अर्थात् समस्त वेदों तथा उनके अर्थों एवं दोनों के सम्बन्धों की नित्यता दर्शाते हुए शब्दाधिकरण और वाक्याधिकरण के द्वारा इसी विषय का प्रतिपादन किया है। तब काठकादि नामों का क्या समाधान होगा ?

यह शङ्का करके सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन से यह उपपन्न होता है यह उत्तर सूत्र से देते हैं—

आख्या प्रवचनात् (जै० १।१।३०)

सूत्र में आख्या से सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों की ओर संकेत किया गया है कि कठ आदि नामों के प्रयुक्त होने का कारण यह है कि इन लोगों ने वेदों की उन-उन शाखाओं का प्रवचन किया था। किन्तु बबर आदि अनित्य का ज्ञान जो पूर्व में कहा गया है इसका क्या समाधान है इसके लिए आगे सूत्र कहा गया है।

शारदी—आख्या=समाख्या अर्थात् पुरुष के नाम से वेद की शाखा की प्रसिद्धि, प्रवचनात्=प्रकृष्ट रूप में अर्थात् असाधारण रूप में समझने के लिये। कठ आदि व्यक्तियों ने इस शाखा को आयत्त किया था, इसीलिये उनके नाम के अनुसार प्रसिद्ध हुआ। पौरुषेयत्व का साधन करते हुए पूर्वपक्षियों ने अनुमान के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध किया था, किन्तु समाख्या के बल से यह विशेष अर्थ का सूचक हो सकता है अथवा अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध किया गया था वह भी ठीक नहीं। सामान्य रूप से वेद का सकर्तृकत्व साधन करने पर भी उसके विरुद्ध अन्य हेतु के द्वारा अकर्तृकत्व या अपौरुषेयत्व सिद्ध किया जा सकता है। इसलिये अनुमान के द्वारा वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं हो सकता। समाख्या के बल से अर्थापत्ति प्रमाण-मूलक वेद का पौरुषेयत्व अर्थात् सकर्तृकत्व प्रतिपादन सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्य रीति से भी समाख्या का उपपादन हो सकता है। अन्य प्रकार से भी उपपत्ति या अन्य प्रकार से ही उपपत्ति ये दोनों अर्थापत्ति की बाधक होती हैं। अन्य प्रकार से जिसकी उपपत्ति

नहीं की जा सकती है वही अर्थापत्ति प्रमाण का विषय है। सम्प्रदाय की अविच्छिन्न धारा में प्रतिपादित वेद का कर्ता अवश्य स्मरणीय होगा क्योंकि कर्ता की आप्तता के आधार पर ही उसके उपदेश का प्रामाण्य सर्वथा स्थिर होता है। जिन अलौकिक विषयों के लिये संसार आजीवन अपनी सुख स्वतंत्रता का परित्याग कर आनन्द का अनुभव करता है, उसका कर्ता अवश्य स्मरणीय होने पर भी स्मृत नहीं होता तो 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' इस पाणिनि सूत्र का इसको विषय मानना ठीक नहीं है, क्योंकि 'तेन प्रोक्तं' इस सूत्र के द्वारा भी समाख्या की उपपत्ति हो सकती है। कठेन कृतः ग्रंथः काठकम् यह काठक का निर्वचन न कर अर्थात् कठ के द्वारा जिस ग्रंथ का निर्माण किया जाता है वह काठक होता है यह निर्वचन न मानकर 'कठेन प्रोक्तं' कठ के द्वारा जो अधीत है, वह काठक है यह भी निर्वचन किया जा सकता है। 'कठचरकाल्लुक्' (पा० सू० ८।३।१०७) इस सूत्र के द्वारा कठ शब्द से विहित तद्धित प्रत्यय का लोप कहा गया है। अतः समाख्या का प्रवचन ही अब समर्थित होता है। अतः अन्य प्रकार से भी उपपत्ति होने से समाख्या के बल से अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वेद की पौरुषेयता सिद्ध नहीं होती है। अतः काठक का अर्थ असाधारण रूप में उस कथा का अध्ययन के कारण है। इसलिए उनके नाम से यह शाखा कही जाती है। यह प्रश्न हो सकता है कि अनेक व्यक्तियों ने इसका विशिष्ट अध्ययन किया है ऐसी स्थिति में उनका उल्लेख क्यों नहीं होता? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि कर्ता के वैशिष्ट्य का प्रकाश करना यदि उसका उद्देश्य है तो यह आपत्ति संगत होती, किन्तु वेद शाखा का विशेष निर्देश करना ही इस समाख्या का उद्देश्य होने पर यह आपत्ति संगत नहीं हो सकती है। कारण उन शाखाओं में अनेक व्यक्तियों की असाधारणता रहने पर भी किसी एक व्यक्ति के उल्लेख से ही यदि उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है तो अन्य प्रयोजन के विना स्वयं ही निवृत्त हो जाता है, जैसे दश पुत्रों की मां किसी स्त्री का परिचय देने की आवश्यकता होने पर उनमें किसी एक पुत्र के उल्लेख का ही परिचय देने से इष्ट सिद्ध होने से अन्य पुत्रो के नाम निर्देश से स्वयं निवृत्त हो जाता है। यहाँ भी यही स्थिति है। अतः अन्य प्रकार से भी उपपत्ति

'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ।' (जै० १।१।३१) इति ।

यत् परं बबरादिकं तच्छब्दसामान्यमेव । न तु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः । बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात् ।

होने से समाख्या के बल पर अर्थापत्ति प्रमाण से वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं हो सकता है ।

दूसरी बात यह है कि समाख्या के बल पर वेद के पौरुषेयत्व प्रतिपादन करने वाले व्यक्तियों से यह जिज्ञासा की जा सकती है कि काठक आदि समाख्या नित्य है या पौरुषेय । यदि समाख्या नित्य है तो उसे नित्य और सकर्तृकत्व नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध है । और यदि वह अनित्य है तो वह किसी मनुष्य के द्वारा रचित होगी । अब यह जिज्ञास्य हैं कि वह मनुष्य आप्त है या अनाप्त । जब तक आप्तत्व नहीं होता तब तक समाख्या का सकर्तृकत्व प्रमाणित नहीं हो सकता है ।

प्रमाणित न होने पर अप्रामाणिक समाख्या के बल पर वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है । अन्य प्रकार से ही समाख्या की उपपत्ति ही यही कहना उचित है क्योंकि 'औत्पत्तिकस्तु' इत्यादि सूत्र में पद, पदार्थ एवं उनके सम्बन्ध की नित्यता ही कही गई है । उस नित्य शब्द के अनुसार ही परवर्ती काल में उस व्यक्तिका नामकरण होता है, जैसे सम्प्रति राम कृष्ण आदि वैदिक समाख्या नित्य होने से इससे वेद के सकर्तृकत्व का अनुमान किया जा सकता है यह नहीं कहा जा सकता है । इसीलिये समाख्या के बल पर अर्थापत्ति प्रमाण से वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं हो सकता है ।

'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (जै० १।१।३१)

अर्थात् बबर आदि जिन अनित्य मनुष्यों का उल्लेख वेद में पाया जाता है वह सब शब्द सामान्य मात्र है । इससे किसी व्यक्ति का बोध नहीं होता है, अपितु बबर ध्वनि से युक्त प्रवहण स्वभाव वायु को ही कहा गया है ।

शारदी—परम्=अन्य, वेद के पौरुषेयत्व का साधक दूसरा हेतु, तु=किन्तु श्रुतिसामान्य मात्रं=शब्द का सादृश्य मात्र अर्थात् वेद के पौरुषेयत्व के दूसरे हेतु का जो निर्देश किया गया है उसका वैसा अर्थ नही है वरन् इस प्रकार है

ननु वेदे क्वचिदेवं श्रूयते, 'वनस्पतयः सत्त्रमासत' 'सर्पाः सत्त्रमासत' इति। वनस्पतीनामचेतनत्वात्, सर्पाणां चेतनत्वेऽपि विद्यारहितत्वात् न तदनुष्ठानं सम्भवति। अतो 'जरद्गवो गायति मद्रकाणि' इत्याद्युन्मत्तबालवाक्यसदृशत्वात् केनचित् कृतो वेद इत्याशङ्क्य उत्तरं सूत्रयति—

'कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः समत्वात्।' (जै० १।१।३३) इति।

यदि ज्योतिष्टोमादिवाक्यं केनचित् पुरुषेण क्रियते तदानीं कृते तस्मिन् वाक्ये स्वर्गसाधनत्वे ज्योतिष्टोमस्य विनियोगो न स्यात्; साध्यसाधनभावस्य पुरुषेण ज्ञातुमशक्यत्वात्। श्रूयते तु विनियोगः, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति। न चैतदुन्मत्तवाक्यसदृशम्,

---

अर्थ बोधक शब्द के साथ उसका सदृश्यमात्र नहीं है। आशय यह है कि वेद के पौरुषेयत्व साधन के लिए पूर्वपक्षी ने बबरः प्रावहणिः इत्यादि वाक्य को निर्दिष्ट किया है। प्रवहण का अपत्य प्रावहणिः इत्यादि वाक्य को निर्दिष्ट किया है। प्रवहण का अपत्य प्रावहणिः यह अर्थ होकर इसका अर्थ पूर्वपक्षी ने जैसा समझा है वैसा नहीं है। अपितु इसका अर्थ प्रकृष्ट रूप से वहनशील होता है। इस अर्थ में वेद के पौरुषेयत्व का साधन इसके द्वारा सम्भव नहीं है यही कारण है कि बबरः प्रावहणिः का अर्थ बबर ध्वनि युक्त प्रकृष्ट रूप में वहनशील वायु होता है। अपत्यार्थक प्रत्यय से निष्पन्न पद के साथ इसका केवल सादृश्य ही है। इसी कारण उन लोगों को शब्द के अर्थ में भ्रम हो जाता है।

अर्थ—वेद में कहीं यह भी सुना जाता है कि 'वनस्पतियों ने यज्ञों का अनुष्ठान किया।' 'सर्पों ने यज्ञ का अनुष्ठान किया।' इनके द्वारा अनुष्ठान सम्भव नहीं है, क्योंकि वनस्पति अचेतन हैं और सर्पों के चेतन होने पर भी वे विचार रहित हैं। अतः इनके द्वारा अनुष्ठान सम्भव नहीं है, अतः जरद्गव मद्रकों का गान करता है इत्यादि उन्मत्त एवं बालक वाक्य के समान होने से किसी के द्वारा रचित वेद है यह आशङ्का कर सूत्र से उत्तर देते है।

यदि यह मान लिया जाय कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्य किसी पुरुष द्वारा रचित हैं तो इस वाक्य में स्वर्ग के साधन के रूप में ज्योतिष्टोम का विनियोग नहीं होता क्योंकि स्वर्ग और ज्योतिष्टोम को

लौकिकविधिवाक्यवद् भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतारूपैस्त्रिभिरंशैरुपेताया भावनाया अवगमात्। लोके हि ब्राह्मणान् भोजयेदिति विधौ, किं, केन, कथमित्याकाङ्क्षायां, तृप्तिमुद्दिश्य, ओदनेन द्रव्येण शाकसूपादिपरिवेषणप्रकारेण इति यथा उच्यते, तथा ज्योतिष्टोमविधावपि, स्वर्गमुद्दिश्य सोमेन द्रव्येण दीक्षणीयाद्यङ्गोपकारप्रकारेण इत्युक्ते कथमुन्मत्तवाक्यसदृशं भवेत्। वनस्पत्यादिसत्त्रवाक्यमपि तत्सदृशम्; तस्य तस्य सत्त्रकर्मणो ज्योतिष्टोमादिना समत्वात्। 'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायविद आहुः। ज्योतिष्टोमादिवाक्यस्य विधायकत्वादनुष्ठाने तात्पर्यम्, वनस्पत्यादिसत्त्रवाक्यस्य अर्थवादत्वात् प्रशंसायां तात्पर्यम्। सा च अविद्यमानेनापि कर्त्तुं शक्यते। अचेतना अविद्वांसोऽपि सत्यमनुष्ठितवन्तः किं पुनश्चेतन विद्वान्सो ब्राह्मणाः इति

साध्यसाधनभाव के रूप से सुना जाता है। ऐसी स्थिति में इस वाक्य को उन्मत्त वाक्य के समान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि लौकिक विधिवाक्यों की भाँति भाव्य, करण और इतिकर्तव्यता रूप तीनों अंशों से युक्त भावना उस वाक्य में प्रतीत होती है। लोक में 'ब्राह्मणान् भोजयेत्' इस विधिवाक्य में तीन प्रकार की आकांक्षा है—क्यों भोजन कराये, किससे भोजन कराये तथा कैसे भोजन करावें। इसी को यहाँ किम्, केन और कथम् इत्याकारक आकांक्षा कहते हैं। तब क्रमशः कहा जाता है, तृप्ति के उद्देश्य से भोजन कराये और शाक-सूप आदि परोसकर करावें। इसी प्रकार उक्त ज्योतिष्टोम की विधिमें भी ये तीनों आकांक्षायें हैं, जैसे— स्वर्ग को उद्देश्य करके ज्योतिष्टोम करें, सोम द्रव्य से ज्योतिष्टोम यज्ञ करें और दीक्षणीय आदि अङ्गों सहित ज्योतिष्टोम करें।

मीमांसक न्यायवेत्ता आचार्यों का कहना है—'यत्परो हि शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् वही शब्द का अर्थ होता है जिसके उद्देश्य से शब्द कहा जाता है। इसके अनुसार विधायक होने के कारण ज्योतिष्टोम आदि वाक्य का तात्पर्य अनुष्ठान में है और वनस्पत्यादि सत्त्र वाक्य अर्थवाद होने से विधि वाक्य की प्रशंसा में तात्पर्य रखते हैं। प्रशंसा तो ऐसी भी वस्तु की की जा सकती है जो सर्वथा विद्यमान न हो। चेतनारहित वनस्पतियों और ज्ञानरहित सर्पों ने जब

सत्रस्तुतिः । 'च'कारः पूर्वपक्षोक्तस्य वाक्यहेतोः कर्त्रनुपलम्भेन पराहतिं समुच्चिनोति । तस्माद् नास्ति वेदस्य पौरुषेयत्वम् ।

अत्रैतौ संग्रहश्लोकौ—

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात् पौरुषेयता ।
काठकादिसमाख्यानाद् वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत् ॥
समाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु पराहतम् ।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता ॥

(जै० न्या० मा० १।१।८) इति ।

सत्र का अनुष्ठान किया तब चेतनायुक्त और विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना ? सूत्र में निर्दिष्ट प्रकार के अनुसार जैसा कि पूर्वपक्षी में वाक्यैरूप हेतु देकर जो वेद के पौरुषेयत्व की पुष्टि की है उसकी भी उन्हीं युक्तियों से पराहति हो जाती है, ऐसा अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि वेद पौरुषेय नहीं है ।

शारदी—कृते=कर्म में कृ धातु से भाव अर्थ में क्त प्रत्यय होने से कृत शब्द का अर्थ कर्म होता है, वा=शंकापक्ष निवृत्तिः, विनियोग=विशेष रूप से नियोग, स्यात्=हो,कर्मणः=कर्मके समान होनेसे । वनस्पतयः सत्रमासतः इत्यादि वाक्यों का विशेष अर्थ में नियोग अर्थात् प्रयोजनीयता रहती है वेद में वनस्पतयः सत्र मासत् अर्थात् वनस्पतियों ने यज्ञ विशेष का अनुष्ठान किया । सर्पाः सत्रमासत अर्थात् सर्पों ने यज्ञ का अनुष्ठान किया इस प्रकार के अनेक उन्मत्त वाक्य वेद में दृष्ट होते हैं। अतः, कतिपय विवेचक शंकापक्ष के रूप में कहते हैं कि वेदका प्रामाण्य नहीं माना जा सकता है इसके उत्तर में कहा गया है । विधायक होने से अनुष्ठान में इनका तात्पर्य है कि वेद के विधि सभी वाक्यको यही माना गया है । "वनस्पतयः सत्र मासते" इत्यादि वाक्य विधि वाक्य नहीं है, अतः इनका विधि रूप में प्रामाण्य न हो तो प्रकृत में कोई हानि नहीं है । विधि रूप जिस तरह वेद वाक्य है, वैसे ही ये भी वेद वाक्य हैं । ऐसी स्थिति में इनके अप्रामाण्य से समग्रवेद का ही अप्रामाण्य मानना होगा, फलस्वरूप वेद के विधि वाक्य भी अप्रामाणिक रहेंगे । इसी के समाधान में 'कृते च' यह सूत्र कहा गया है 'वनस्पतयः सत्रमासते" इत्यादि वाक्य विधि वाक्य नहीं हैं, ये वाक्य अर्थवाद हैं । ये विधिवाक्य के सन्निहित हैं । विधिवाक्य के ही उत्तमक होने से अर्थवाद वाक्य विधि वाक्य में

ननु भगवता बादरायणेन वेदस्य ब्रह्मकार्य्यत्वं सूत्रितम्, 'शास्त्रयोनित्वाद्' (वे० १.१।३) इति। ऋग्वेदादिशास्त्रकारणत्वाद् ब्रह्म सर्व्वज्ञमिति सूत्रार्थः। बाढम्। नैतावता पौरुषेयत्वं भवति, मनुष्यनिर्मितत्वाभावात्। ईदृशमपौरुषेयत्वमभिप्रेत्य व्यवहारदशायामाकाश-

---

पुरुष की प्रवृत्ति उत्पन्न कराते हैं। इससे यही अवगत करते हैं और फल प्राप्त करते हैं। अचेतन वनस्पतियाँ एवं सर्प आदि भी जब यज्ञ विशेष का अनुष्ठान करते हैं, तब विद्या-बुद्धि-सम्पन्न ब्राह्मणों के लिए यह आवश्यक कर्तव्य है- यही अर्थवाद का तात्पर्य या उद्देश्य है। अतः अर्थवाद वाक्य काल्पनिक होने पर भी उसके द्वारा विधि वाक्य न होने से उनके प्रामाण्य की किसी प्रकार से हानि नहीं हो सकती है, क्योंकि, ये अर्थवाद वाक्य स्वार्थ में तात्पर्य शून्य हैं। लोक-व्यवहार में भी काल्पनिक—उत्प्रेक्षित विषयों से प्ररोचना का उत्पादन होता है; वेद के अपौरुषेय होने से विधि में प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये जो वाक्य रूप हेतु दिया था उसका खण्डन सूत्र में प्रयुक्त 'च' शब्द के आधार पर किया जाता है कि वेद वाक्यों के कर्ता का नाम उपलब्ध नहीं होता है जब कि रघुवंश आदि के वाक्यों के कर्ता के रूप में कालिदास आदि का नाम उपलब्ध होते हैं। इससे सिद्ध है कि वेद पौरुषेय नहीं है। इस विषय में संग्रह श्लोक हैं—

अर्थ—वेद वाक्य पौरुषेय है अथवा पौरुषेय नहीं है (यह शंकापक्षी की शंका है) वेद वाक्य पौरुषेय है क्योंकि वेदों के साथ कठ आदि के नाम जुड़े हुए हैं। और वाक्य होने के कारण भी वेद वाक्य पौरुषेय हैं, अन्य वाक्यों की तरह अर्थात् जिस प्रकार रघुवंश आदि के वाक्य पौरुषेय हैं उसी प्रकार वेद के वाक्य भी पौरुषेय हैं क्योंकि दोनों ही वाक्य रूप हैं। (अब सिद्धान्ती शंका का समाधान करता है) कठ आदि के नाम वेदों के साथ इसलिये जुड़ गये हैं, क्योंकि इन लोगों ने वेदों का प्रवचन किया था वाक्य रूप हेतु का खण्डन इस आधार हो जाता है कि वेद के वाक्यों का कोई कर्ता उपलब्ध नहीं होता हैं जब कि रघुवंश आदि ग्रंथों के कालिदास आदि उपलब्ध होते हैं। अतः वेद अपौरुषेय हैं।

यहाँ शंका होती है कि भगवान् बादरायण ने अपने 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र में बतलाया है कि वेद ब्रह्म का कार्य है अर्थात् ऋग्वेदादि शास्त्रों का कर्ता होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है। (समाधान करते हुए कहते हैं) ठीक है कि वेद ब्रह्म का कार्य है किन्तु इतने से वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि मनुष्य ने

दिवद् नित्यत्वं बादरायणेनैव देवताधिकरणे सूत्रितम्, 'अत एव च नित्यत्वम्' (ब्र० सू० १।३।२९) इति। श्रुतिस्मृती चात्र भवतः—'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७।-।५) इति श्रुतिः। अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' (म० म० शा० २।३२।३४) इति स्मृतिः। तस्मात् कर्तृदोषशङ्काया अनुदयात् मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्य निर्विघ्नं प्रामाण्यं सिद्धम्।

मन्त्रब्राह्मणयोः स्वरूपनिर्णयः:—

ननु मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं वेदस्य न युक्तम्, तयोः स्वरूपस्य निर्णेतुमशक्यत्वात्। मैवम्। द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे सप्तमष्टयोरधिकरणयोर्निर्णीतत्वात्।

वेद का निर्माण नहीं किया है। इस प्रकार के अपौरुषेयत्व को ध्यान में रखकर स्वयं वादरायण ने देवताधिकरण में व्यवहार दशा में आकाश आदि की तरह वेद के नित्यत्व को सूत्रित किया है—'अतएव च नित्यत्वम्'। वेद के नित्यत्व को समर्थित करने वाली श्रुतियाँ और स्मृतियां भी हैं—श्रुति ('वाचा विरूपनित्यया,' अनेक रूपों को धारण करने वाले महर्षि विरुप उत्पत्ति आदि से रहित वाणी से स्तुति करे। इससे वाणी को नित्य माना है (स्मृति) 'अनादिविधाना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'। ब्रह्मा आदि और अन्तरहित वाणी की सृष्टि की इसलिये कर्ता के होने की शङ्का केउदय न होने से मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद का प्रामाण्यनिर्विघ्नसिद्ध हो जाता है।

मन्त्र और ब्राह्मण का स्वरूप निरूपण

वेद का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए आचार्य सायण ने कहा है कि मंत्र और ब्राह्मण को वेद कहा जाता है 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह वचन उपलब्ध होता है, किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि मंत्र और ब्राह्मण का स्वरूप निर्णय होने के बाद ही मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा जा सकता है। अर्थात् यह वेद का लक्षण सगत हो सकता है, किन्तु मन्त्र और ब्राह्मण का अभी भी स्वरूप निर्णीत नहीं है। मीमांसा के द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद के सातवें और आठवें अधिकरण में मन्त्र और ब्राह्मण का स्वरूप निर्णीत है। जैमिनि-

सप्तमाधिकरणमारचयति—

अहे बुध्निय मन्त्रं म इति मन्त्रस्य लक्षणम् ।
नास्त्यस्ति वास्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥
याज्ञिकानां सामाख्यानं लक्षणं तोषवर्जितम् ।
तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥
(जै० न्या० मा० २।१।७) इति ।

आधाने इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति । तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात् । विहितार्थाभिधायको मन्त्र इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वाद् अव्याप्तिः । मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः । एवमसिपदान्तो मन्त्र उत्तमपुरुषान्तो मन्त्र इत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिरिति चेत् ? मैवम् । याज्ञिकानां समाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात् ।

न्यायमाला में सातवें अधिकरण की अवतारणा करते हुए लिखा है "अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय" (तै० ब्रा० १।२।१।८६) यह मन्त्र का लक्षण है, किन्तु लक्षण उसे कहा जाता है; जो अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष से शून्य होता है, किन्तु इसके द्वारा अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष का वारण नहीं हो सकता है। यदि यज्ञ में विहित अर्थ का अभिधायक जो होता है उसे मंत्र कहा जाता है तो 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते (वा० सं० २४।२०) । इस मंत्र के विधिरूप होने से यहाँ इस लक्षण की अव्याप्ति होगी । क्योंकि इसके द्वारा विहित अर्थ का विधान नहीं होता है । फलतः मन्त्र में मन्त्र का लक्षण यदि समन्वित न हो तो वह लक्षण अव्याप्ति दोष से दुष्ट मानना पड़ेगा, क्योंकि लक्ष्य में लक्षण का समन्वय न होने पर वह लक्षण अव्याप्ति दोष से दुष्ट माना जाता हैं क्योंकि (लक्ष्ये लक्षणानागमनम् अव्याप्तिः) ।

यदि यह माना जाय कि मनन का साधन मंत्र है तो ब्राह्मण ग्रन्थ में भी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि ब्राह्मण ग्रंथ भी मनन का साधन होता है । अलक्ष्य

तच्च समाख्यानम् अनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति, 'उरु प्रथस्व' (तै० सं० १।१।८।१) इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः, 'अग्निमीळे पुरो-हितम् (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयः स्तुतिरूपाः, 'इषे त्वा' (तै० सं० १।१।१।१) इत्यादयस्त्वान्ताः। 'अग्न आयाहि वीतये' (तै० ब्रा० ३।५।२।१) इत्यादयः आमन्त्रणोपेताः। 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३।१।२) इत्यादयः प्रैषरूपाः। 'अधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्' (ऋ० सं० १०।१२९।५) इत्यादयो विचाररूपाः। 'अम्बे अम्बाल्यम्बिके न मा नयति कश्चन' (तै० सं० ७।४।१९।१) इत्यादयः

में लक्षण का समन्वित होना ही अतिव्याप्ति दोष है अर्थात् 'अलक्ष्ये लक्षण-गमनम् अतिव्याप्तिः'। अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट लक्षण निर्दुष्ट लक्षण नहीं होता है। यदि इस दोष से मुक्ति के लिये मंत्र का लक्षण यह माना जाय कि असिपद से घटित जो होता है उसे मंत्र कहा जाय अर्थात् असि पद जिसके अन्त में होता है उसे मंत्र कहा जाता है अथवा उत्तम पुरुष अस्मि इत्यादि जिसके अन्त में हो वह मन्त्र कहलाता है तो परस्पर अव्याप्ति दोष होगा अर्थात् पुरुषान्त में उत्तम पुरुष लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इसके उत्तर में सायण ने कहा है कि यह कथन ठीक नहीं है। अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण मन्त्र ब्राह्मण के लिए समीचीन नहीं है। अपितु जिस शब्द राशि को याज्ञिक मंत्र पद से निर्दिष्ट करते हैं उसे ही मन्त्र माना जाता है। यही मन्त्र का दोष रहित अर्थात् अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से रहित लक्षण है। यह समाख्यान अनुष्ठान के स्मारक आदि वाक्यों का मन्त्र समन्वित होना सिद्ध करता है, यथा 'उरु प्रथस्व' (तै० सं० ६।२।७।३) इत्यादि अनुष्ठान के स्मारक मन्त्र हैं। अग्नि-मीडे पुरोहितम्' (ऋ० १।१) इत्यदि स्तुति परक मंत्र हैं। 'इषे त्वा' (वा० सं० १।१) इत्यादि आमन्त्रण मन्त्र हैं। 'अग्नीदग्नीन् विहर' (तै० सं० ६।३। १।२) इत्यादि प्रेषरूप मन्त्र हैं। 'अधः स्विदासीदुपरस्विदासीद् (ऋ० १०। १२९।५ इत्यादि विचार रूप मंत्र हैं। 'अम्बेऽम्बिके' अम्बालिके न मा नयति

परिदेवनरूपाः। 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' (तै०सं० ७।४।१८।२) इत्यादयः प्रश्नरूपाः। 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (तै० सं० ७।४।१८।२) इत्यादय उत्तररूपाः। एवमन्यदपि उदाहार्यम्। ईदृशेषु अत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत। लक्षणस्य चोपयोगः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः--

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः,। इति

तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम्।

अष्टमाधिकरणमाचरति।—

नास्त्येतद् ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथ वा।
नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः॥
मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः।
अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

(जै० न्या० मा० २।१।८) इति।

कश्चन' (वा० सं० २३।१८) इत्यादि परिदेवन रूप मंत्र है। 'पृच्छामि त्वा परमन्त पृथिव्या (वा० स० २३।६१) इत्यादि प्रश्नरूप मंत्र हैं। 'वेदिमाहुः परमन्तं पृथिव्याः' (वा० सं० २३।६२) इत्यादि उत्तर रूप मन्त्र हैं। इसी प्रकार अन्य को भी समझना चाहिये। इस प्रकार के अत्यन्त विजातीय वाक्यों में याज्ञिक समाख्यान के अतिरिक्त दूसरा कोई अनुगत धर्म नहीं है जिसे मंत्र का लक्षण कहा जाय। अब प्रश्न यह उठता है कि लक्षण करने का क्या उपयोग है, क्योंकि नाम ग्रहण पूर्वक स्वरूप का परिचय कराया जा सकता है? इसके उत्तर में सायण ने कहा है पूर्वाचार्यों ने लक्षण का इस रूप में उपयोग प्रदर्शित किया है—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥

अर्थात् ऋषिलोग भी अलग-२ पदार्थों का अनुशीलन करके उनका निर्णय नहीं कर पाये, विद्वान 'लक्षण' के द्वारा सिद्ध पदार्थों का निर्णय कर लेते हैं।

चातुर्मास्येषु इदमाम्नायते, 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि (तै० ब्रा० १।७।११) इति । तत्र ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति । कुतः ? वेदभगानामि इयत्तानवधारणेन ब्राह्मणभागेषु च लक्षणस्य अव्याप्त्यतिव्याप्त्यो शोधयितुमशक्यत्वात् । पूर्वोक्तो मन्त्रभाग एकः । भागान्तराणि च कानिचित् पूर्वैरुदाहर्त्तुं संगृहीतानि—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ।। इति ।

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (श० ब्रा० २।५।२।२३) इति हेतुः । 'तद्दध्नो दधित्वम्' (तै० सं० २।५।३।४) इति निर्वचनम् । 'अमेध्या वै माषाः'

अतः उक्तयुक्ति के द्वारा यह मन्त्र है—इस तरह की संज्ञा जिनकी है वे ही मन्त्र हैं ।

चातुर्मास्य में यह कहा गया है 'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' किन्तु वहाँ ब्राह्मण का लक्षण नहीं कहा गया है । वेद भाग के परिमाण का निर्धारण न होने के कारण ब्राह्मण भाग में भी लक्षण की अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का निवारण संभव नहीं है और अन्य भागों को पूर्वाचार्यों के आधार पर संग्रहीत किया गया है । आशय यह है कि 'एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' इस प्रसंग में ब्राह्मण का लक्षण नहीं किया गया अतः संदेह होता है कि पूर्व श्लोक में 'विद्यते' का अर्थ संशय है । इतने वेद भाग हैं 'इयन्तो वेदभागाः' अर्थात् इतने मन्त्र हैं इस निश्चय का अभाव होने से अव्याप्ति 'अतिव्यप्ति का निवारण सभव नहीं है । अतः ब्राह्मण का लक्षण नहीं मिलता है । इस संशय का समाधान करते हुए कहा गया है, वेद के दो भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण । मन्त्र भाग पहले कहा गया हैं उससे अतिरिक्त ब्राह्मण हैं । यही ब्राह्मण का लक्षण है ।

हेतु, निर्वचन, निन्दा प्रशंसा, संदेह, विधान, एक कर्तृक आख्यान, अनेक कर्तृक आख्यान, व्यवधारण कल्पना । इसका उदाहरण पूर्वक व्याख्यान निम्नलिखित है—

'तेन ह्यन्नं क्रियते' (श० ब्रा० २।५।२।२३) इसमें हेतु का निर्देश है, 'तद् दध्नो दधित्वम्' (तै० सं० २।५।३।२) यह निर्वचन किया गया है,

(तै० सं० ५।१।८।१) इति निन्दा। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २। १।१।१) इति प्रशंसा। 'तद्व्यचिकित्सज् जुहवानी३ माहौष३म्' (तै० सं० ६।५।९।१) इति संशयः। 'यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति' (तै० सं० ६।२।१०।३) इति विधिः। 'माषानेव मह्यं पचन्ति' इति परकृतिः। 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै० सं० १।५।७।५) इति पुराकल्पः। 'यावतो-ऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वरुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेद्' (तै० सं० २।३।१२।१) इति विशेषावधारणकल्पना। एवम् अन्यदपि उदाहार्यम्।

न च हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणमिति लक्षणम्, मन्त्रेष्वपि हेत्वा-दिसद्भावात्-'इन्दवो वामुशन्ति हि' (ऋ० सं० १।२।४) इति हेतुः। 'उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (तै० सं० ५।६।१।३, अथर्व०

'अमेध्या वै माषाः' (तै० सं० ५।१।८।१) इसमें माष (उरद) को अमेध्य कहकर निन्दा की गई है, 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (तै० सं० २।१।१।१) इसमें, वायु की प्रशंसा है, 'तद्व्यचिकित्सज्जुहवानी माहौषम् तै० सं० ६।५।९।१) यह सन्देह है, यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति' (तै० सं० ६।२।१०।३) यह विधान है, 'माषानेव मह्यं पचन्ति' यहाँ परकृति (एक कर्तृक आख्यान) है, 'पुरा ब्राह्मणा अभैपुः' (तै० सं० १।५।७।५) यहाँ पुराकल्प का अनेक कर्तृक आख्यान है, 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।१२।१) यह व्यवधारण-कल्पना अर्थात् 'जितने अश्वों को प्रतिग्रह कराएगा, यह अर्थ करते हैं। इसी तरह अन्य वाक्यों को भी समझना चाहिये।

यदि हेतु आदि के द्वारा संग्रहीत मन्त्र से अतिरिक्त भी वेदभाग का निर्देश किया गया है, ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त हेतु आदि में किसी एक के रहने पर उसे ब्राह्मण माना जाय तो क्या आपत्ति है? अर्थात् निर्दिष्ट हेतु आदि में अन्य-तम ब्राह्मण है। यही ब्राह्मण का लक्षण है। किन्तु यह लक्षण यदि ब्राह्मण का माना जायगा तो वेद के मन्त्रांश में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यथा—'इन्दवो वामुशन्ति हि' (ऋ० १।२।४) क्योंकि सोम तुम्हारी कामना करते हैं, इस मन्त्र में हेतु का निर्देश है। निर्वचन—'उदानिषुर्महीरिति

३।१।३।४) इति निर्वचनम् । 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता' (ऋ० सं०-१०।११७।६) इति निन्दा । 'अग्निर्मूर्द्धादिवः ककुत्' (ऋ० सं० ८।४४। १६) इति प्रशंसा । 'अधः स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त् । (ऋ० सं०-१०।१२९।५) इति संशयः । 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं०-२४।२०) इति विधिः । 'सहस्रमयुता ददत्' (ऋ० सं० ८।२१।१८) इति परकृतिः । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (ऋ० सं० १।१६४।५०) इति पुराकल्पः । इति करणबहुलम् ब्राह्मणमिति चेत्, न, 'इत्यददा इत्यय-जथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' (तै० ब्रा० ३।९।१४।३) इत्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रे (श० ब्रा० १३।१।५।६) अतिव्याप्तेः, 'इत्याह'

तस्मादुदकमुच्यते' (अ० ३।१३।४) पृथ्वी के ऊपर लाये इसलिये वे उदक कहे जाते हैं। इस मन्त्र में उदक शब्द के अर्थ का निर्वचन किया गया है। (३) निन्दा—मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता' (ऋ० १०।११७।३) स्वार्थी व्यक्ति व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करते हैं। (मोघं = व्यर्थ, अन्नं = अन्न को, विन्दते = प्राप्त करते हैं, अप्रचेता = स्वार्थी व्यक्ति)। (४) प्रशंसा—'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद् (ऋ० ९।४४।१६) अग्नि द्युलोक का मस्तक है। (यहाँ अग्नि को द्युलोक की मूर्द्धा कह कर प्रशंसा की गई है)। (५) संशय—'अधः स्विदासी-दुपरिस्विदासीद्' (ऋ० १०।१२९।५) क्या वह ऊपर है या नीचे है। (यहाँ पर ऊपर नीचे कहकर संशय प्रदर्शित किया गया है)। (६) विधान—'वसन्ताय कपिञ्जलानालभत' (वा० सं० २४।२०) वसन्त के लिये कपिञ्जल अर्थात् पक्षिविशेष अर्थात् चातकके आलभन का विधान किया गया है। (७) परकृति—'सहस्रमयुता ददद् (ऋ० ८।२१।१८)। हजार दस हजार दिये। यहाँ परकृति (एक पुरुष की आख्यायिका) है। (८) पुराकल्प—'यज्ञेन यज्ञ-मयजन्त देवा' (ऋ० १०।९०।१६)। यज्ञ से देवताओं ने यज्ञपुरुष का याग किया। इसमें पुराकल्प है। यदि कोई यह कहे कि 'इति' का बाहुल्य ब्राह्मण में होता है, तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि 'इत्याददा इत्ययजथा इत्यपच' (तै० ब्रा० १।९ १४।३) इसमें जो ब्राह्मण के गाने योग्य मन्त्र (श० ब्रा० १३। १।५।६) में है उसमें इतीकरण की बहुलता के कारण अतिव्याप्ति हो जाती

इत्यनेन वाक्येन उपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेत् ? न, 'राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० सं० ७।४१।२) 'यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचीरस्मीत्याह' (ऋ० सं० ७।१०४।१६) इत्यनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः। आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेत्, न, यमयमीसंवादसूक्तादौ (ऋ० १०।१०) अतिव्याप्तेः।

तस्मात् नास्ति ब्राह्मणस्य लक्षणमिति प्राप्ते ब्रूमः—मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागावित्यङ्गीकारान्मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वाद् अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमित्येतल्लक्षणं भविष्यति। तदेतल्लक्षणद्वयं जैमिनिः सूत्रयामास—

'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'

शेषे ब्राह्मणशब्दः' (जै० २।१।३२-३३) इति।

है। यदि यह कहें कि 'इत्याह' इस वाक्य से जो उपनिबद्ध है वह ब्राह्मण है तो भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि 'राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह' (ऋ० ७।४१।२) 'यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' (ऋ० ७।१०४।१६) इन दोनों मन्त्रों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति है। यदि ब्राह्मण को आख्यायिका रूप कहते हैं तो यमयमी संवाद आदि सूक्तों (ऋ० १०।१०) में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी आख्यायिका है।

अतः शंकापक्षी कहता है कि उपर्युक्त कारणों से ब्राह्मण का लक्षण असम्भव है। ऐसी स्थिति में सिद्धान्ती इसका परिहार करते हुए कहता है कि यह माना जा चुका है कि वेद के दो भाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। मन्त्र का लक्षण पहले बताया जा चुका है, इसलिये अवशिष्ट वेद भाग ब्राह्मण हैं। यह ब्राह्मण का लक्षण होगा। अतः जैमिनि ने ब्राह्मण के दो लक्षणों को इस प्रकार से सूत्र-बद्ध किया है—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (जै० १।२।३२)

वह अनुष्ठेय पदार्थ प्रकाशक, चोदक=प्रयोजक, समस्त वाक्यों, का मन्त्राख्या=मन्त्र इस शब्द से निर्देश किया जाता है अर्थात् मन्त्र उनका नाम है जो वेद-वाक्य अभिधान के द्वारा अर्थात् अनुष्ठेय पदार्थ प्रकाशन के द्वारा प्रयुक्त होते हैं,

तस्मिन् वेदे केषुचिदभिधायकेषु वाक्येषु मन्त्र इति समाख्या सम्प्रदायवद्भिर्व्यवह्रियते--'मन्त्रानधीमहे' इति। मन्त्रव्यतिरिक्तभागे तु ब्राह्मणशब्दस्तैर्व्यवहृत इत्यर्थः।

अर्थात् अनुष्ठेय पदार्थ के लिये जिनका प्रयोग किया जाता है उनको मन्त्र कहा जाता है। शेषे=मन्त्र से अतिरिक्त वेदभाग में, ब्राह्मणशब्दः=ब्राह्मण इस शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् मन्त्रातिरिक्त वेदभाग की ब्राह्मण संज्ञा है।

शारदी--आशय यह है कि मन्त्रगत भाव क्रिया अर्थात् आख्यात (तिङन्त) किसी अर्थ के विधायक हैं कि नहीं इस विषय का व्याख्यान पूर्वसूत्र के द्वारा किया गया।। प्रसङ्ग क्रम में मन्त्र का लक्षण कहा जा रहा है। वेद दो प्रकार के हैं- मन्त्रात्मक और ब्राह्मणात्मक। "अहे बुध्निय मन्त्र में गोपाय" (तै० ब्रा० १।२।१) एवं एतत् ब्राह्मणान्येव पञ्चहवींषि (तै० ब्रा० १।७।१) इत्यादि वेद-वचनों से एवं मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयं इस आपस्तम्ब यज्ञ परिभाषा सूत्र में भी यही कहा गया है। इनमें मन्त्र का क्या लक्षण है इसका विवरण प्रस्तुत करते हुए भाष्य में तस्य चोदकेषु इस रूप में षष्ठी समास का विग्रहमात्र प्रदर्शन किया गया है। इस स्थल में तत् अविधानम्, चोदकं येषां यह बहुव्रीहि समास माना गया है जो अभिधान का अर्थात् अनुष्ठेय पदार्थ प्रकाश का अर्थात् अनुष्ठान का साधन है उसको मन्त्र कहा जाता है।

आचार्य कुमारिलभट्ट ने मन्त्र और ब्राह्मण का स्वरूप निरूपण करते हुए लिखा है कि वेद के जिन वाक्यों के अन्त में 'असि' या 'त्वा' शब्द हैं—वे मन्त्र हैं। जैसे 'मेक्षोऽसि', 'ईषेत्वा' इत्यादि। इसी प्रकार जिन मन्त्रों में आशीः अर्थात् आशंसा=प्रार्थना आदि है, वे भी मन्त्र हैं जैसे 'आयुर्दा असि' इत्यादि, जिनके द्वारा स्तुति की जाती है—वे भी मन्त्र हैं। यथा—'अग्निमूर्द्धा' इत्यादि। जिनके द्वारा संख्या प्रकाशित हो वे भी मन्त्र हैं। "एको मम" इत्यादि। प्रलपित बोधक वेद वाक्य भी मन्त्र हैं जैसे—"अक्षि ते इन्द्र पिङ्गले" इत्यादि। परिदेवित (विलाप) सूचक—'अम्बेअम्बिके अम्बालिके' इत्यादि वाक्य भी मन्त्र हैं, नियोग (प्रैष) बोधक भी मन्त्र हैं। जैसे "अग्नीदग्नीन् विहर इत्यादि।

अनुसन्धानबोधक वाक्य भी मन्त्र है। "कोऽसि कतमोऽसि" इत्यादि। प्रश्नसूचक वाक्य भी मन्त्र हैं, यथा--'पृच्छामि त्वा परन्तं पृथिव्याः' इत्यादि। आख्यान अर्थात् उपाख्यान सूचक वाक्य भी मन्त्र हैं, यथा--इयं वेदिः पृथिवी इत्यादि। अनुषङ्ग सूचक वेदवाक्य भी मन्त्र है यथा 'अच्छिद्रेण पवित्रेण' इत्यादि। प्रयोग बोधक वाक्य भी मन्त्र हैं यथा—ऐश्वर्यं चातुःस्वर्यम्' इत्यादि। इस प्रकार सामर्थ्यकारक अभिधान शक्ति सम्पन्न अर्थात् अनुष्ठेय पदार्थस्मरणकारक ही मन्त्र है।

वृत्तौ लक्षणमेतेषामस्यन्त त्वान्तरूपता।
आशिषः स्तुति-संख्ये च प्रलप्तं परिदेवितम्।
प्रैषान्वेषण पृष्टाख्यानानुषङ्ग-प्रयोगिता।
सामर्थ्यं चेति मन्त्राणां विस्तरं प्रायिकोर्थतः॥(श्लो० वा०)

वेद के मन्त्र भाग का लक्षण लिखकर इस प्रसङ्ग में ब्राह्मण शब्द भाग का लक्षण करते हुए सूत्रकार ने लिखा है--'शेषे ब्राह्मणशब्दः"। शाबर भाष्य में ब्राह्मण भाग के परिचय के लिये कतिपय वेदभागों का उल्लेख किया है। यथा—हेतु सूचक वेद भाग —"शूर्पेण जुहोति" "तेन ह्यन्नं क्रियते इत्यादि। निर्वचन बोधक वेदवाक्य—"तद्दध्नो दधित्वम् "इत्यादि। निन्दा-सूचक वेदवाक्य—"अमेध्या वै माषाः" इत्यादि। प्रशंसाज्ञापक वेदभाग—"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि। संशयसूचक वेदभाग—"होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम्"। "तद् व्यतिचिकित्सज् गुह्वानि महौषधम्" इत्यादि। विधिबोधक वेदभाग—"यजमानेन सम्मितौदुम्बरी" इत्यादि। पर क्रिया[1]—"मासान् मे पचते" इत्यादि। पुराकल्प निर्देशक वेदभाग—"उन्मूकैर्ह स्म समाजग्मुः", "पुरा ब्राह्मणा अभैषुः" इत्यादि।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वेद मन्त्र और ब्राह्मण इन दो भागों में विभक्त है, वेद के मन्त्र भाग की व्याख्या ब्राह्मण भाग में की गई है। वेद के

१. परक्रिया और परकृति ये अपरपर्याय हैं। एक पुरुष के द्वारा किया गया उपाख्यान परक्रिया है और अनेक व्यक्तियों के द्वारा किया गया उपाख्यान पुराकल्प है।

ननु ब्रह्मयज्ञप्रकरण, मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्ता इतिहासादयो भागा आम्नायन्ते--'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः' (तै० आ० २।९) इति; मैवम्, विप्रपरिव्राजकन्यायेन ब्राह्मणाद्यवान्तरभेदानामेव इतिहासादीनां पृथगभिधानात्। 'देवासुराः संयत्ता

मन्त्रों में ही मन्त्र शब्द का पुनः पुन उल्लेख मिलता है। यथा ऋक् संहिता के प्रथम अष्टक में "मन्त्रि मनसा वनोषितम्" (ऋ० स० १।२।३४।१३)। "मन्त्रं वदत्यूक्थ्यम्" (ऋ० सं० १।३।२०।५)। इसी प्रकार अनेक मन्त्र घटित श्रुतियाँ ऋग्वेद एवं अन्य वेदों में कही गई हैं। शबर स्वामी (तै० ब्रा० १।२।१) 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' की व्याख्या में कहा है कि मन्त्र शब्दका क्या अर्थ है। वेदों के मन्त्रों में उल्लिखित मन्त्र शब्द का अर्थ निर्धारण करने के लिए ही भगवान् जैमिनि ने 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (२।१।३२) इस सूत्र के द्वारा मन्त्र शब्द का लक्षण निर्दिष्ट किया है। भाष्यकार ने इसकी अनेक व्याख्याएं दी हैं और उपसंहार में कहा है कि वेद-सम्प्रदाय-रक्षक अभियुक्त ने वेद के जिस अंश को मन्त्ररूप में स्मरण किया है, व्यवहार किया है और अध्ययन-अध्यापन किया है वही मन्त्र भाष्यकार ने कहा है "अभिधानस्य वोदकेषु एवं जातीयकेषु अभियुक्ताः उपदिशन्ति मन्त्राणि अधीमहे, मन्त्रान् अध्यापयामः, मन्त्राः वर्तन्त इति। इसकी टीका में आचार्य कुमारिल ने कहा है कि 'अध्येतृवृद्धव्यवहार-सिद्धं वेदम्' अतः यह शिष्टगण जिसको मन्त्र रूप में व्यवहार करते हैं वे ही मन्त्र के अर्थ हैं, जो जिस विषय में अभियुक्त रहता है, उस विषय में उसकी उक्ति ही प्रामाण्य है। अतः वेद सम्प्रदाय रक्षक वैदिक आदि को छोड़कर अन्य के व्याख्यान से मन्त्र शब्द का निरूपण सम्भव नहीं है।

अर्थ--यहाँ आशङ्का होती है कि ब्रह्मयज्ञ के प्रकरण में मन्त्र और ब्राह्मण भागों के अतिरिक्त इतिहास आदि भागों का भी उल्लेख किया गया है—'यद् ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः'। सिद्धान्त पक्षी कहता है कि ऐसा नहीं है। जैसे ब्राह्मण होते हुए भी परिव्राजकों का पृथक् उल्लेख किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ ब्राह्मण-परिव्राजकन्याय से ब्राह्मण के आवा-

आसन्' (तै० सं० ५।३।११।१) इत्यादय इतिहासाः। 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्' (तै० ब्रा० २।१।९।१) इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थामुपक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्। कल्पस्तु अरुणकेतुकचयनप्रकरणे समाम्नायते—'कल्पोऽत ऊर्ध्वम्। यदि बलिं हरेत्', (तै० आ० १।३।१।२) इति मन्त्राः। अग्निचयने 'यमगाथाभिः परिगायति' (तै० सं० ५।१।८।२) इति विहिता मन्त्रविशेषा गाथाः। मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादका ऋचो नाराशंस्यः। तस्माद् मन्त्रब्राह्मणव्यतिरिक्तभागाभावात् मन्त्रब्राह्मणस्वरूपस्य लक्षितत्वात् तदुभयात्मकं वेदस्य सुस्थितम्।

लक्षणपूर्वकं मन्त्राणां त्रैविध्यविचारः—

मन्त्रावान्तरविशेषश्च तस्मिन् एव पादे इत्थं विचारितः।

नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते।
पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः॥

(जै० न्या० २।१।१०) इति

न्तर भेद होते हुए भी इतिहास आदि का पृथक् उल्लेख किया गया है। 'देवासुराः संयत्ता आसन्' इत्यादि इतिहास है। 'इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्' अर्थात् पहले यह कुछ नहीं था इत्यादि जगत् की प्रागवस्था से लेकर सृष्टि का प्रतिपादन करने वाला वाक्य समूह पुराण है। कल्प का उल्लेख अरुणकेतुकचयन के प्रकरण में इस तरह हुआ है—'इति मन्त्राः'। कल्पोऽत ऊर्ध्वम् यदि बलं हरेत्। अग्निचयन में 'यमगाथाभिः परिगायति' इस प्रकार विधान किये गये मन्त्रविशेष गाथा हैं। मनुष्यों के वृत्तान्त का प्रतिपादन करने वाली ऋचाएं नाराशंसी कही जाती हैं। इसलिये मन्त्र और ब्राह्मण के व्यतिरिक्त भाग का अभाव होने से मन्त्र तथा ब्राह्मण के स्वरूप के लक्षित हो जाने से वेद का मन्त्र ब्राह्मणात्मक होना सुस्थिर है।

मन्त्र के आवान्तर भेदों का उसी पाद में जैमिनि ने इस प्रकार विचार किया है—

ऋक्, साम और यजु का कोई व्यवस्थित लक्षण नहीं है क्योंकि ये तीनों

इदमाम्नायते—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः।' 'ऋचः सामानि यजूंषि' (तै० ब्रा० १।२।१।२६) इति। त्रीन् वेदान् विदन्ति इति त्रिविदः त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः। ते च यं मन्त्रभागमृगादिरूपेण त्रिविधमाहुस्तं गोपाय इति योजना। तप त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति कुतः? साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात्। अध्यापकप्रसिद्धेषु ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति हि लक्षणं वक्तव्यम्। तच्च सङ्कीर्णम्। 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' (तै० सं० १।१।५।१) इत्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नो यजुषां मध्ये पठितः। न च तस्य यजुष्ट्वमस्ति तद् ब्राह्मणे सावित्र्यर्चा (तै० ब्रा० ३।२।५।३) इति ऋक्त्वेन व्यवहृतत्वात्। 'एतत् सामगायन्नास्ते' (तै० आ० ९।१०।५) इति प्रतिज्ञाय किञ्चत् साम यजुर्वेदे गीतम्। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' (छा० उप० ३।१७।६) इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि। तथा, गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे

एक दूसरे से परस्पर मिले हुए पाये जाते हैं (ऐसा शङ्कापक्षी का कहना है)। पादबद्ध होना ऋक् का, गान साम का तथा प्रश्लिष्ट पाठ यजुः का लक्षण है, जिससे इन तीनों में सांकर्य दोष नहीं आता है। (सिद्धान्ती के अनुसार)।

ऐसा पाठ है—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि'। तीन वेदों को जानते हैं वे त्रिविद कहलाते हैं। त्रिविदों से पढ़ने वाले त्रैविद हैं। और उन्होंने जिस मन्त्र भाग को ऋगादि के रूप से तीन प्रकार से कहा है उसकी रक्षा करो, यह योजना है। ऋक्, साम और यजुः इन तीन प्रकार के मन्त्रों का कोई व्यवस्थित लक्षण नहीं है। क्यों? सांकर्य दोष का परिहार न होने से। अध्यापक-परम्परा में जो मन्त्र ऋग्वेद में पठित है वे ऋक् हैं, जो सामवेद में पठित है वे साम हैं, जो यजुर्वेद में पठित हैं वे यजुः हैं, यदि ऐसा लक्षण किया जाय तो यह लक्षण संकीर्ण होगा। क्योंकि 'देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' यह मन्त्र यजुर्वेद में यजुः मन्त्रोंके मध्य में पढ़ा गया है। यह मन्त्र यजुः नहीं है,

समाम्नायन्ते। तस्माद् नास्ति लक्षणमिति चेत्, न, पादादीनामसंकीर्णलक्षणत्वात्। पादेन अर्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठितमन्त्रा यजूंषि इत्युक्ते न क्वापि संकरः। तदेतत् त्रैविध्यं जैमिनिना सूत्रत्रयेण लक्षितम् —

'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (२।१।३५)

'गीतिषु सामाख्या' (२।१।३६)

'शेषे यजुः शब्दः' (जै० सू० २।१।३७) इति।

एतमेव मन्त्रावान्तरविशेषमुपजीव्य वेदानामृग्वेदो यजुर्वेद सामवेद इति त्रैविध्यं सम्पन्नम्।

फलचिन्तनपूर्वकं वेदाध्ययनस्येतिकर्तव्यतया निर्देशः—

क्योंकि इसके ब्राह्मण में 'सावित्र्यर्चा' कहकर इसे ऋक् के रूप में व्यवहृत किया है। 'एतत्साम गायन्नास्ते' यह प्रतिज्ञा करके कुछ साम यजुर्वेद में गाये गये हैं। 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसंशितमसि' ये तीन यजुः सामवेद में पठित हैं। उसी प्रकार गाये जानेवाली सामवेद की आश्रयभूत ऋच यें सामवेद में पढ़ी गई हैं। इसलिये ऋक्, साम, यजुः का कोई लक्षण नहीं है।

सिद्धान्त पक्ष के अनुसार ऋक्, साम और यजुः का लक्षण है, क्योंकि इनका पाद व्यवस्था आदि जो लक्षण है। वह संकीर्ण नहीं है। पाद और अर्थ से युक्त छन्दो बद्ध मन्त्रों को ऋक्, गीतिरूप मन्त्रों को साम और वृत्त अर्थात् छन्द तथा गीति इन दोनों से रहित प्रश्लिष्ट पठित मन्त्रों को यजुः कहा जाता है। इस प्रकार सांकर्य नहीं रहता है। इन तीन प्रकार के मन्त्रों का लक्षण जैमिनि ने तीन सूत्रों के द्वारा सूत्रित किया है —

'इन तीनों में ऋक् मन्त्र वे होते हैं, जिनमें अर्थ के अनुसार पादों की व्यवस्था हो।'

'गान किये जाने वाले मन्त्रों को साम कहा जाता है।'

'शेष मन्त्रों को यजुः कहा जाता है।'

इन मन्त्रों के तीन आवान्तर भेदों को उपजीवी मानकर वेदों की त्रिविधता—ऋक् यजुः और साम सम्पन्न होती है।

शारदी—वेद के मन्त्र तीन प्रकार के हैं—ऋक् मन्त्र, यजुः मन्त्र और साम मन्त्र। ऋक् संहिता में ही इन तीन प्रकार के मन्त्रों का उल्लेख मिलता 'तमर्केभिस्तमसामभिस्तमगायत्रैश्चर्षणयः इन्द्रं वर्धति क्षितयः' (ऋ० सं० ६।१। २२) अर्क पद के द्वारा यजुः मन्त्र का, सामपद के द्वारा साममन्त्र का एवं गायत्र पद के द्वारा गायत्री आदि छन्दोयुक्त, शस्त्ररूप, अप्रगीत, ऋक् मन्त्रों का उल्लेख किया गया है (सायण भाष्य)। इन तीन प्रकार के मन्त्रों का लक्षण जैमिनि ने भी प्रदर्शित किया है।

'तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जै० २।१।३५) 'गीतिषु समाख्या' (जै० २।१।३६), 'शेषे यजुःशब्दः' (जै० १।२।३७)। इन सूत्रों से जैमिनि ने ऋक्, यजुः और साम मन्त्रों का लक्षण दिया है। नियत अक्षर से युक्त पाद और नियत संख्यकपाद जिनमें हैं, विशिष्ट अर्थ के प्रकाशक वे ऋक् मन्त्र कहे जाते हैं जैसे अग्निमीडे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१) इत्यादि। जो ऋक् मन्त्र षड्ज आदि स्वरों के साथ सम्बद्ध होकर गीत होते हैं वे साम मन्त्र कहे जाते हैं। इस तरह ऋक् मन्त्र ही स्वर संयुक्त उच्चारित होने पर साम नाम से कहे जाते हैं। इसीलिये छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—'तस्माद् गीतिरूढं साम गीयते' (१।६।५)। स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि पद्य मन्त्र ही ऋक् हैं और गीतियुक्त मन्त्र ही साम। ऋक् और साम से भिन्न मन्त्र यजुः मन्त्र हैं अर्थात् नियत अक्षर पादबद्ध नहीं है एवं स्वर संयोग से गीत भी नहीं हैं। ऐसे पद्य गीति से भिन्न मन्त्र ही यजुः है, यजुः मन्त्र में भी छन्द हैं। यह सत्य है कि यजुः मन्त्र हैं, अतः यजुः मन्त्र में छन्द मान लेने पर भी वे ऋक् मन्त्र के समान नियत अक्षरयुक्त पाद विशिष्ट नहीं हैं। पिंगलादि छन्दः शास्त्र में यजुर्मन्त्र के छन्दों का निर्देश है, ऐसी कुछ लोगों की धारणा है। जिन लोगों ने यजुर्मन्त्र में छन्द की धारणा मानी है उनकी धारणा है कि यजुर्मन्त्र में छन्द न मानने से ब्राह्मण की संज्ञा हो जायेगी। यह उनकी भ्रान्ति है, क्योंकि सूत्रकार, भाष्यकार सभी ने मन्त्र से अतिरिक्त में ही ब्राह्मण संज्ञा की है। अतः यजुर्मन्त्र में छन्द न रहने पर भी उसके मन्त्रत्व की हानि नहीं होती है। इस प्रकार समग्र वेद मन्त्र और ब्राह्मण इन दो भागों में विभक्त है। कौन मन्त्र है इनमें अभियुक्तों का कथन ही प्रमाण

तेषां च वेदानां सर्वेषामन्यतमस्य वा स्वप्रज्ञानुसारेण अध्ययनमुपनीतेन कर्तव्यम् । तथा च याज्ञवल्क्यः स्मरति—

'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' इति ।

एकवेदपक्षे पितृपितामहादिपरम्पराप्राप्त एव वेदोऽध्येतव्य इत्यभिप्रेत्य 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' (तै० आ० २।१५ इति 'स्व' शब्द आम्नातः । तच्चाऽध्ययनं न काम्यं किन्तु नित्यम् । अत एव पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम् ।

'वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात् ।' इति ।

पातित्यञ्चैवमाम्नायते—'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रं वा एतत्, तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाके तदेषाभ्युक्ता यस्तित्याज सखिविदं सखायम्, न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति । यदि शृणोत्यलीकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थामिति । तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै० आ० २।१।५) इति ।

है । वेद परम्परा के अनुसार जिसको मन्त्र कहा गया है वे मन्त्र हैं और मन्त्र से अवशिष्ट भाग वेद है । अर्थात् सायण के 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मण शब्दः' इन दो सूत्रों के व्याख्यान का यही आशय है।

वेदों के अध्ययन की आवश्यकता :—

अर्थ—अपनी बुद्धि के अनुसार उन वेदों में सभी का अथवा किसी एक का अध्ययन उपनयन के बाद करना चाहिये । जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—'क्रमानुसार सभी वेदों का अथवा दो वेदों का अथवा एक वेद का अध्ययन करके ।' एक वेद के अध्ययन के पक्ष में पिता–पितामह आदि की परम्परा से प्राप्त ही वेद का अध्ययन करना चाहिये । इसी अभिप्राय से 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में स्व शब्द का उल्लेख किया गया है । और वह अध्ययन काम्य नहीं किन्तु नित्य है । इसीलिये पुरुषार्थानुशासन में यह सूत्रित किया गया है—

'वेदाध्ययन नित्य है क्योंकि अध्ययन न करने से पतित हो जाता है ।' पतित होने की बात वेद में इस प्रकार कही गई है—स्वध्याय पापों का नाशक तथा देवताओं को भी पवित्र कर देने वाला है । जो उस स्वाध्याय को छोड़ देता है

अध्येतारं पुरुषं तदीयप्रवासाभिज्ञानेन सखिवत् पालयतीति सखि-विद् वेदः। बहुद्रव्यप्रयाससाध्यक्रतुफलस्य अध्ययनमात्रेण सम्पादनं तत्पालनम्। तदपि आम्नायते—

'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति।

यद्यपि एतद् ब्रह्मयज्ञस्वाध्यायफलं तथापि ग्रहणार्थाध्ययनमन्तरेण ब्रह्मयज्ञासम्भवात् तदीयफलमपि सम्पद्यते। ईदृशं सखिविदं वेदरूपं सखायं यः पुमान् अध्ययनमकृत्वा परित्यजति तस्य वाच्यपि भाग्यं नास्ति, फले भाग्यं नास्तीति किमु वक्तव्यम्। सकलदेवतानां धर्मस्य परब्रह्मतत्त्वस्य च प्रतिपादकं वेदमनुच्चार्य परनिन्दानृतकलहादिहेतुं लौकिकीं वार्त्तां सर्व्वत्रोच्चारयतः स्पष्ट एव वाचि भाग्याभावः। अत एवाम्नायते—

'नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।'
(बृ० उ० ४।४।२१) इति।

वह वाणी में भाग रहित तथा स्वर्ग में भाग रहित हो जाता है, जैसा कि कहा है—'जिसने सखिविद् वेद को छोड़ दिया, उसकी वाणी में भी अंश नहीं है। जो कुछ वह सुनता है व्यर्थ सुनता है, क्योंकि वह सुकृत=पुण्य के मार्ग को नहीं जानता है।' इसलिये वेद का अध्ययन करना चाहिये। वेद अध्येता के परिश्रम को समझकर उसको मित्र की भाँति पालन करता है। बहुत द्रव्य और प्रयास से साध्य यज्ञ के करने से जो फल होता है, उसे अध्येता केवल अध्ययन से प्राप्त कर लेता है। इसका उल्लेख वेद में मिलता है 'जिस-जिस यज्ञ का अध्ययन करता है उस-उस से उसका यज्ञ हो जाता है और वह अग्नि, वायु तथा आदित्य के सायुज्य को प्राप्त कर लेता है।

यद्यपि यह ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय का फल है, तथापि ग्रहण करने के लिये जो अध्ययन किया जाता है उसके विना ब्रह्म-यज्ञ असम्भव होने से यह फल सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के सखिविद् वेदरूप सखा का अध्ययन न करके जो पुरुष उसका परित्याग कर देता है उसकी वाणी में भी भाग्य नहीं है। फल में

यद्यप्यसौ काव्यनाटकं शृणोति तथापि निरर्थकमेव तच्छ्रवणं तेन सुकृतमार्गज्ञानाभावादित्यर्थः ।

स्मृतिरपि—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (मनु० २।१६८) इति ।

एवमन्यान्यपि बहूनि वचनान्यत्र उदाहर्त्तव्यानि ।

वेदाध्ययनस्य फलप्रतिपादनम् :—

ननु अधीते वेदे पश्चात् अध्ययनविध्यर्थज्ञानं, ज्ञाने सति पश्चाद् अध्ययनप्रवृत्तिरित्यन्योन्याश्रय इति चेत् ? बाढम्, अत एव गुरुमता-

---

उसका भाग्य नहीं है इसका क्या कहना है । सभी देवताओं, धर्म एवं परब्रह्म तत्त्व के प्रतिपादक वेद का उच्चारण न करके दूसरों की निन्दा, असत्य, कलह आदि की हेतुभूत लौकिक वार्ता का जो व्यक्ति सर्वत्र उच्चारण करता है स्पष्ट ही उसकी वाणी में भाग्य का अभाव है। इसलिये कहा है - बहुत शब्दों को न बोले, क्योंकि वह वाणी को दूषित करता है ।'

यद्यपि मनुष्य काव्य नाटकादि का श्रवण करता है तथापि नाटकादि का श्रवण निरर्थक ही है क्योंकि उसे सुकृत् पुण्यमार्ग का ज्ञान नहीं होता है । स्मृति भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करती है, जो ब्राह्मण वेद का अध्ययन न कर अन्यत्र शास्त्र में परिश्रम करता है वह शीघ्र ही जीवित अवस्था से सन्तान समूह के साथ शूद्रत्व को प्राप्त करता है। इसका विश्लेषण मेधातिथि ने इस रूप में किया है कि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिये "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः" इसमें कृत्स्न शब्द का अर्थ सम्पूर्ण वेदाङ्ग अवगत होता है, ऐसा मानने पर श्लोक के द्वारा सम्पूर्ण वेद एवं वेदाङ्ग के अध्ययन का नियन्त्रण हो जाता है। किन्तु कुछ लोगों ने इस कृत्स्न शब्द के द्वारा वेदांग का ग्रहण न कर सम्पूर्ण वेद के ग्रहण की व्यवस्था की है। मनुस्मृति के आधार पर ऐसा अवगत होता है कि वेदाध्ययन के बिना वेदाङ्गों के अध्ययन की अनुमति नहीं दी गई है । इसी की अभिव्यक्ति अन्यत्र 'कुरुते श्रमम्' के द्वारा किया गया है । श्रम शब्द के द्वारा अधिक यत्न का निषेध किया गया है। वेद का अध्ययन

नुसारिण आचार्यकर्तृकाध्यापनेन प्रवृत्तियुक्तिं माणवकाध्ययनस्य महता प्रयासेन सम्पादयन्ति ।

मतान्तरानुसारिणस्तु प्रकाशात्मादयोऽध्ययनात् प्रागेव सन्ध्यावन्दनादिविधिज्ञानवत् पित्रादिभ्योऽध्ययनविज्ञानं वर्णयन्ति । यद्यध्यापनविधिप्रयुक्तिर्यदि वा स्वविधिप्रयुक्तिः, सर्वथाऽपि उपनीतैरध्येतव्य एव वेदः। तस्य च अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वम् अक्षरग्रहणान्तत्वं च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम् । तानि सूत्राणि तद्वृत्तिं च उदाहरामः—

अध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं साधयितुं पूर्वपक्षयति—

'अदृष्टार्थात्वधीतिर्विहितत्वात् ।' इति ।

दृष्टफलसाधने भोजनादौ विध्यदर्शनाद् विहितमपि अध्ययनमदृष्टार्थमवगन्तव्यम् । अदृष्टविशेषो न श्रुत इति चेत् ? तत्राह—

'घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा ।' इति ।

कर अवसर क्रम में अन्य शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये । शूद्रत्व की प्राप्ति हो रही है, अतः अतिशय निन्दा की अवगति हो रही है । द्विज के द्वारा द्वितीय जन्म अर्थात् उपनयन को कहा गया है, फलतः उपनयन से पूर्व शिक्षा, व्याकरण आदि वेदाङ्गों का अध्ययन निषिद्ध नहीं है (मनु० २।१।६८) इसी प्रकार अन्य अनेक वचन भी उदाहरण स्वरूप दिये जाने चाहिये ।

प्रकृत में यह आशंका हो सकती है कि वेद का अध्ययन करने के बाद "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययन विधि से अर्थ का ज्ञान होता है और ज्ञान होने के पश्चाद् अध्ययन में प्रवृत्ति होगी। इस रूप में परस्पर सापेक्ष होने के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष होगा —यह आशंका ठीक नहीं। इसी दोष की आशंका से प्रभाकर के मतानुसार ८ वर्ष के बालक का उपनयन करना चाहिये और अध्यापन करना चाहिये। 'अष्ट वर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तम् अध्यापयीत च' इस वचन के द्वारा आचार्य कर्तृक अध्यापन के द्वारा बालक के अध्ययन की प्रवृत्ति ही गुरुतर प्रयास के द्वारा प्रभाकर ने सिद्ध की है। अतः अध्यापन विधि मूलक अध्ययन में प्रवृत्त होने के कारण अध्ययन विधि प्रदर्शित वेदाध्ययन होने के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष की आशङ्का नहीं है ।

अध्ययन विधि में प्रवृत्त करने वाले प्रकाशात्मयति आदि आचार्यों के अनुसार अध्ययन से पहले ही सन्ध्यावन्दन आदि विधियों के ज्ञान के समान पिता आदि के द्वारा ही अध्ययन विधि का ज्ञान भी हो जाता है। अध्यापन विधि प्रयुक्त हो या अध्ययन विधि प्रयुक्त हो उपनीत बालकों को अवश्य ही वेद का अध्ययन करना चाहिये और उस अध्ययन की दृष्टार्थकता अर्थात् अध्ययन का दृष्ट ही प्रयोजन है! और अक्षर ग्रहण मात्र पर्यन्त ही वह सीमित है। यह पुरुषार्थानुशासन में सूत्र द्वारा निर्दिष्ट किया है उन सूत्रों को और उनकी वृत्तियों को उदाहरण स्वरूप प्रदर्शित किया जा रहा है।

अध्ययन दृष्ट फल के लिये है इसको सिद्ध करने के लिये शंकापक्षी अर्थात् अध्ययन अदृष्टार्थक है इसका प्रतिपादन किया जा रहा है अध्ययन अदृष्ट के लिए विहित होने से।

आशय यह है कि उन्हीं क्रियाओं का विधान किया जाता है जो अदृष्ट प्रयोजन के लिए होती है, जैसे भोजन करना चाहिए, पानी पीना चाहिये आदि कर्मों के लिए विधि का निर्देश नहीं रहता है, क्योंकि क्षुधानिवृत्ति; पिपासा-निवृत्ति आदि दृष्टफल प्रत्यक्ष होने से इसके लिये पृथक् विधि नहीं दी गई है। यदि वेदाध्ययन भी दृष्ट प्रयोजन के लिये रहता तो अध्ययन के लिये स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि को लिखने की आवश्यकता नहीं थी। अतः यह मानना होगा कि अध्ययन दृष्ट प्रयोजन के लिये न होकर अदृष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये है। यदि यह आशङ्का हो कि अध्ययन से उत्पन्न होने वाले अदृष्ट विशेष का निर्देश विधिवाक्य से नहीं है, अतः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि वाक्य को अदृष्टार्थक कैसे माना जा सकता है, अतः इस आशङ्का के समाधान में कहा गया है कि कुल्या आदि का अतिदेश कर ले अथवा स्वर्ग की कल्पना कर लें।

शारदी ---स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (तै०आ० २।१५।१)---स्वाध्याय = वेद या वेदत्रय के अन्तर्गत अपने-अपने सम्प्रदायानुसार शाखा उसका अध्ययन करना चाहिये। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययन विधि का प्रयोजन है। यह सहज में ही जिज्ञासा होती है कि यदि अक्षर का ग्रहण मात्र ही माना जाय तो अध्ययन शब्द का अर्थ गुरु के उच्चारण को सुनने बाद तदनुरूप उच्चारण कर

उस वेद वाक्य को उस रूप में स्वायत्त करना ही अर्थ होगा। इस रूप में अध्ययन का अर्थ मानने पर इसका फल अदृष्ट ही मानना होगा। जैसे विश्वजिता यजेत इसमें फल का निर्देश नहीं है फिर भी मीमांसा के चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद के अनुसार स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशेषात् (४।३।१५)। इस सूत्र के अनुसार स्वर्गफल सभी में परिग्रहीत होता है। किन्तु यदि कोई दृष्टफल हो सकता है तो अदृष्टफल की कल्पना उचित नहीं है। बोधायन गृह्यसूत्र में वेदमधीत्य स्नायात् (६।१) अर्थात् वेदाध्ययन कर समावर्तन स्नान करना चाहिये यह एक विधि मिलती है। यहाँ स्वाध्याय अध्ययन के द्वारा अर्थग्रहण के द्वारा व्यवधान होगा। अतः इस बोधायन वाक्य में अधीत्य यह ल्यप् प्रत्ययान्त शब्द प्रयुक्त है इसलिये यहाँ पर अनन्तर अर्थ की प्रतीति हो रही है अर्थात् वेदाध्ययन के अनन्तर समावर्तन स्नान करना चाहिये। वेदाध्ययन के बाद वेदार्थ विचार के लिये वहाँ रहने पर बहुत समय व्यतीत होगा, क्योंकि वेदार्थ विचार अल्पकाल से साध्य नहीं है। वेदार्थ विचार के बाद समावर्तन स्नान मानने पर वेदाध्ययन के अव्यवहित बाद में समावर्तन स्नान नहीं हो सकेगा। फलतः विधि बोधित आनन्तर्य का बाध होगा, किन्तु यह उचित नहीं है।

इसके उत्तर में मीमांसकों ने यह माना है कि अध्ययन विधि के द्वारा केवल अक्षरग्रहण रूप अध्ययन ही विहित नहीं है वरन् अक्षरार्थग्रहण भी इसके द्वारा विहित होता है। दृष्ट फल होने पर अदृष्ट फल की कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि अर्थज्ञानरूप प्राप्त का परित्याग तथा अप्राप्त स्वर्गरूप फल की कल्पना करने से कृत का नाश और अकृत का अभ्यागम नामक दोष होगा। साथ ही इसमें कल्पना गौरव नामक दोष भी प्राप्त है। प्रथम स्वर्गरूप फल की कल्पना और अध्ययन में स्वर्ग साधनत्व की कल्पना करनी पड़ेगी, इसलिये स्वर्ग स्वाध्याय विधि का फल नहीं है वरन् अर्थज्ञान ही स्वाध्याय विधि का फल है। अतः वेदाध्ययन अर्थज्ञान पर्यन्त विवक्षित है। मीमांसकों ने एक अन्य पक्ष के उद्भावन के द्वारा स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि का प्रदर्शन करते हुए लिखा है कि इस विधि के द्वारा अग्निहोत्रादि याग के अधिकारी को

नियमित किया गया है। वेद में 'अग्निहोत्रं जुहूयात' यह विधि कही गई है, किन्तु इस विधि में कौन हवन करे उस अधिकारी का निर्देश नहीं किया गया है। फलतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी अग्निहोत्र याग कर सकते हैं। इतना ही नहीं अनुष्ठेय विषय का ज्ञान भी अर्थतः प्राप्त ही है, क्योंकि अनुष्ठेय विषय के सम्बन्ध का ज्ञान न रहने पर उसका अनुष्ठान कथमपि सम्भव नहो है, इसलिये शूद्र की भी वेदाध्ययन में प्रवृत्ति प्राप्त है। शूद्र का यज्ञानुष्ठान में अधिकार नहीं है, ऐसा षष्ठ अध्याय के प्रथमपाद के सप्तम अधिकरण में कहा गया है और यह तभी सम्भव है जब वेदाध्ययन कर्म में अधिकारी का नियमन सम्भव हो। यह सत्य है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि में भी किसी अधिकारी का निर्देश नहीं किया गया है, किन्तु 'वसन्ते ब्राह्मणम् उपनयीत' 'ग्रीष्मे राजन्यम्,' 'शरदि वैश्यम्' अर्थात् ब्राह्मण का वसन्त में; क्षत्रिय का ग्रीष्म में एवं वैश्य का शरद काल में उपनयन संस्कार विहित हैं। संस्कार गौण कर्म है; अतः अवश्य ही किसी प्रधान कर्म के अंग हैं, यह मानना होगा। किसी प्रधान कर्म का प्रकृत में निर्देश नहीं और इससे पूर्व भी देखा गया कि स्वाध्यायरूप प्रधान विधि में कर्ता का निर्देश नहीं है। आगे के इस उपनयन संस्कार बोधक विधि में कर्म का निर्देश नहीं है। अतः एक विधि कर्म की अपेक्षा कर रही है दूसरी कर्ता की। ये दोनों विधियाँ परस्पर अन्वय योग्य हैं। अतः तीन ही वेदाध्ययन करेंगे, जिन तीनों का उपनयन निर्दिष्ट है। इस प्रकार उपनयन रूप संस्कार-कर्म अध्ययन का अङ्ग होने से अध्ययन के कर्ता का संस्कार किया गया है। संस्कार कर्म प्रधान कर्म के ही अङ्ग हैं। सायण ने पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय की आशङ्का कर गुरुमत (प्रभाकर) का निर्देश किया है।

उसका आशय यह है—"माणवकमुपनीय अध्यापनेन आचार्यकं भावयेत्" = माणवक का उपनयन से संस्कार कराकर, अध्यापन से आचार्यत्व को प्राप्त करे। यहाँ अध्यापन में कर्ता है आचार्य। माणवक अध्ययन में कर्ता है। जब कोई माणवक पढ़ेगा नहीं, तब आचार्य कर्तृक अध्यापन नहीं कर सकता है। इसलिये अध्यापन से ही अध्ययन सिद्ध हो गया। अतः अध्ययन में विधि नहीं है, किन्तु यह अनुवाद है।

अब यह विचारणीय है कि इस विधि का आचार्यत्व-सिद्धि प्रयोजन है

या अर्थज्ञान ? यदि आचार्यत्व सिद्धि ही प्रयोजन है तब वह पाठमात्र से ही सिद्ध हो जाता है। फलतः शास्त्रविचार की आवश्यकता नहीं है।

अध्यापन विधि परगामी होने से बहिरंग है और अर्थज्ञान माणवकगामी होने से अन्तरंग है। इसलिये अन्तरंग होने से अर्थज्ञान ही अध्ययन विधि का प्रयोजन है, क्योंकि "अन्तरङ्ग बहिरङ्गयोर्मध्ये, अन्तरङ्गं बलीयः।" यहाँ यह आशङ्का होती है कि अध्यापन विधि से अध्ययन का आक्षेप क्यों होता है ? अध्ययन विधि में अधिकारी नहीं है; अतः अध्यापन विधि से अध्ययन का अनुष्ठान हो जाता है अर्थात् अध्ययन का आत्मलाभ सिद्ध हो जाता है। इसका समर्थक वाक्य मनुस्मृति में उपलब्ध है--जो ब्राह्मण शिष्य का उपनयन कर कल्प और रहस्य के साथ वेद का अध्यापन करता है उसी को आचार्य कहा जाता है—

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।।
(मनु०, अ०, २, श्लो० १४)

इस स्मृति में बालक का उपनयन कर अध्यापन के द्वारा आचार्यकरण की विधि है। इसके द्वारा अध्ययन आचार्यत्व का साधन है, क्त्वा प्रत्यय होने से उपनयन अध्यापन का अंग है। गुरु के समीप में निवास के द्वारा यह अध्ययन में कारण है। इस प्रकार अध्यापन विधि प्रयुक्त अध्ययन का विधान प्रभाकर मत के अनुसार कहा गया है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रकाशात्म ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है—आपात ज्ञान से ही मानव की प्रवृत्ति हो जायेगी। जैसे बालक को अध्ययन के बिना ही सन्ध्यावन्दन आदि विधियों का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार पिता आदि के द्वारा अध्ययन विधि का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् अध्ययन के बिना ही पिता आदि के द्वारा यह जान लेता है कि अध्ययन विधि क्या है। जैसे पिता बालक को यह सूचना दे देता है कि सन्ध्यावन्दन करना चाहिये उसी प्रकार वेदाध्ययन की भी सूचना दे देता है और स्वाध्यायोऽध्येतव्यः विधि का ज्ञान हो जाने से निष्कम्प प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं है।

ब्रह्मयज्ञजपाध्ययनार्थवादं नित्याध्ययनेऽतिदिश्य तत्रत्यं घृतकुल्यादिकं रात्रिसत्त्वन्यायेन फलत्वेन कल्पनीयम्। ये तु अर्थवादातिदेशं नेच्छन्ति तैर्विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः कल्पनीयः। दृष्टफलयोः संस्कारप्राप्त्योः सम्भवे कथमदृष्टकल्पना इत्यत आह—

'आयुक्ते संस्कारप्राप्ती।' इति।

संस्कृतस्वाध्यायस्य क्वचित् क्रतौ विनियोगादर्शनात् प्राप्तिः स्वयमपुरुषार्थत्वाच्च इत्यर्थः।

अर्थ—स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस नित्य अध्ययन विधि में किसी विशेष फल का निर्देश न रहने पर भी ब्रह्मयज्ञ जप अध्ययन के अर्थवाद का रात्रिसत्रन्याय के समान विधि में अतिदेश कर वहाँ अर्थवाद में अतिदिष्ट जो वेदों के अध्ययन के फल निर्दिष्ट हैं उन्हीं फलों का नित्य अध्ययन विधि में अतिदेश कर उन्हीं विशेष फलों की कल्पना करनी चाहिये। यदि अर्थवाद का अतिदेश करना नहीं चाहते हैं तो विश्वजित् न्याय के समान इस नित्य अध्ययन विधि का स्वर्गरूप फल मानना चाहिये। यदि यह शंका की जाय कि दृष्ट फल संस्कार प्राप्ति रूप फल जब अध्ययन विधि से सम्भव हो सकता है तो स्वर्गादि अदृष्ट रूप फल के कल्पना की क्या जरूरत है। इस दृष्टि से कहा है संस्कार और प्राप्ति ये फल ठीक नहीं हैं क्योंकि संस्कृत स्वाध्याय का किसी फल में विनियोग नहीं देखा गया है और प्राप्ति स्वयं अपुरुषार्थ है।

शारदी—आशय यह है कि अनेक विधियों में फल का निर्देश नहीं रहता है। ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः आदि विधिवाक्यों में स्वर्ग आदि फलों का स्पष्ट निर्देश मिलता है। किन्तु विश्वजिता यजेत, इसी तरह से रात्रिसत्र आदि यज्ञों में फल का निर्देश नहीं किया गया। इसी प्रकार स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि वाक्य में अदृष्ट फल का निर्देश न होने पर भी पूर्वोक्त दोनों यज्ञों के अनुसार फल का सम्बन्ध किया जा सकता है। यही शंका पक्षी का कथन है। रात्रिसत्र न्याय में किसी फल का निर्देश नहीं है। किन्तु उसकी स्तुति संपादक अर्थवाद

वाक्य में प्रतिष्ठा रूप फल का प्रतिपादन किया गया है। यथा 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते, य एता रात्रिरुपयन्ति' इस अर्थवाद वाक्य में प्रतिपादित प्रतिष्ठा रूप फल का रात्रिसत्र विधि के फल रूप में अतिदेश मान लिया जाता है। प्रकृत में भी ब्रह्मयज्ञ रूप अध्ययन बोधक विधि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः के अनन्तर 'यदृचोऽधीते पयसः कुल्यास्य पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति, यद् यजूंषि घृतस्य कुल्या; यत् सामानि सोम एभ्यः पवते, यदथर्वाङ्गिरसो मधोः कुल्या (तै० आ० २।१) इस अर्थवाद वाक्य में जो घृत पयःकुल्या, घृतकुल्या, मधुः कुल्या का निर्देश है, यही फल इस नित्य विधि के फल के रूप में अतिदिष्ट हो जायेंगे अर्थात् यही इस विधि का फल होगा। घृतकुल्या आदि इस स्तावक अर्थवाद में निर्दिष्ट फल स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि के भी फल होंगे। यदि स्तावक अर्थवाद के द्वारा प्रतिपादित फल को विधि का फल नहीं मानना चाहते हैं तो इस तरह विश्वजित् याग में किसी फल का निर्देश न रहने पर भी स्वर्ग रूप उस विधि का फल मान लिया जाता है। उसी तरह से यहाँ भी किसी फल का निर्देश न रहने पर—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतञ्च तत्पदं स्वः पदास्पदम्॥

ऐसे दुःख रहित निरतिशय सुखरूप स्वर्ग को ही फल मान लिया जायेगा। क्योंकि यह फल सभी विधियों में सामान्य रूप से समन्वित हो सकता है। प्रकृत में स्वाध्याय विधि का फल निर्देश न रहने पर भी विश्वजित् न्याय के अनुसार स्वर्गरूप अदृष्ट फल की कल्पना कर ली जायेगी। फलतः विश्वजित् न्याय के समान ही स्वाध्याय विधि भी अदृष्टार्थक होगी। इसके उत्तर में कहना है कि दृष्ट फल जहाँ सम्भव नहीं होते हैं वहीं अदृष्ट की कल्पना करनी चाहिये। अदृष्ट की अपेक्षा दृष्ट श्रेष्ठ हैं (दृष्टे फले संभवति नादृष्टपरि-कल्पना, दृष्टं वरम् अदृष्टतः)। अतः स्वाध्याय अर्थात् गुरुमुखोच्चारणपूर्वक अनुच्चारण रूप जो अध्ययन है उससे संस्कार होता है जिस किसी प्रकार से वेद का अध्ययन करने पर संस्कार नहीं होता है। अपितु स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि के अनुसार अध्ययन सम्पादन करने पर स्वाध्याय संस्कार सम्पन्न होता

स्वाध्यायप्राप्तिरर्थप्रमितिहेतुतया पुरुषार्थ इत्याशंक्य विषनिर्हरणादिकार्य्यविनियुक्तमन्त्रवद् अध्ययनाङ्गतया विनियुक्तानां ज्योतिष्टोमादिवाक्यानां न स्वार्थे प्रामाण्यमित्याह—

'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम् ।' इति ।

अध्ययनविधायकं तु वाक्यं स्वविहिताध्ययनस्यैव अङ्गमिति कृत्वा स्वार्थप्रमाणमित्याह—

'अध्ययनवाक्यमनन्याङ्गम् ।' इति ।

है। यह एक स्वाध्याय विधि का दृष्ट फल है, एवं वेद के अक्षरों की स्वाध्याय विधि के अनुसार अध्ययन करने पर प्राप्ति हो जाती है अर्थात् कण्ठस्थ हो जाता है। इन दो दृष्ट फलों के रहने पर रात्रिसत्र न्याय के अनुसार अदृष्ट फल की कल्पना समीचीन नहीं है।

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि स्वाध्याय प्राप्ति साक्षात् पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् अक्षर प्राप्ति अर्थ ज्ञान का साधन होकर पुरुषार्थ होता है तो यह कथन भी समीचीन नहीं होता है, क्योंकि विषहरण रूप कार्य में विनियोग किये गये मन्त्रों के समान ही अध्ययन के अङ्ग के रूप में विनियुक्त ज्योतिष्टोम आदि वाक्यों का भी अपने अर्थ में प्रामाण्य नहीं है। इसी दृष्टि से कहा है अन्य का अङ्ग अपने अर्थ का प्रमाण नहीं होता है।

अध्ययन का विधायक वाक्य अपने द्वारा विहित अध्ययन का ही अङ्ग है। अतः वह अपने अर्थ में प्रमाण है। इसी से कहा गया है कि अध्ययन वाक्य अन्य का अङ्ग नहीं है।

शारदी :—आशय यह है कि स्वध्याय की प्राप्ति को साक्षात् पुरुषार्थ के रूप में नहीं माना जा सकता है और वह परम्परा क्रम में ही पुरुषार्थ हो सकता है, क्योंकि अक्षर ग्रहण अर्थज्ञान का साधन है। अतः अक्षर ग्रहण के बिना अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। अक्षर का ग्रहण करने पर ही अर्थग्रहण होता है। यदि अर्थज्ञान पर्यन्त विधि को विधेय माना जाय तो वह स्वयं साक्षात् पुरुषार्थ होगा। अतः अर्थज्ञान के बाद ही अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है और जिस यज्ञ

ननु एवमदृष्टार्थत्वे कर्म्मकारकभूतस्वाध्यायगतफलाभावाद्

का फल अनर्थरूप है उससे निवृत्ति होती है। जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य का अर्थज्ञान होने से स्वर्गसाधन रूप ज्योतिष्टोम याग में प्रवृत्ति होती है और श्येनेन यजेत मृत्युकामः' इस अनर्थ रूप मृत्यु के साधनभूत श्येनादि यज्ञों से निवृत्ति होती है, अतः अर्थज्ञान साधन होने से अक्षर ग्रहण पुरुषार्थ हो सकता है। वह साक्षात् पुरुषार्थ नहीं है।

इसके उत्तर में शङ्का पक्षियों का कहना है कि जैसे विष को दूर करने वाले मन्त्र का अर्थ विष दूर करने के लिये प्रयोग कर्ता नहीं जानता है फिर भी विष उतारने वाला मन्त्र विष निराकरण मन्त्र का विनियोग किया जाता है और वह विष उतारने में समर्थ होता है यद्यपि इस कार्य में विनियुक्त वाक्य का कोई अर्थ नहीं है। यह सामान्य नियम है कि जो वाक्य किसी का अङ्ग होता है वह अपना स्वतन्त्र अर्थ प्रतिपादित नहीं करता है।

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि वाक्य के द्वारा विहित समग्र वेदाध्ययन के अङ्ग के रूप में होने कारण अपने अर्थ में इनका प्रामाण्य नहीं माना जा सकता है। यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि अक्षर ग्रहणार्थक स्वाध्याय की प्राप्ति अर्थज्ञान का हेतु है। अतः यह अध्ययन का फल है। इस प्रसंग में यह आशंका हो सकती है कि जिस प्रकार ज्योतिष्टोम आदि के विधायक वाक्य अध्ययन के अङ्ग होने के कारण अप्रामाणिक हैं अर्थात् उनका प्रामाण्य नहीं है उसी तरह अध्ययन का विधान करने वाले स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस वाक्य का भी अपने अर्थ में प्रामाण्य नहीं हो सकता है, क्योंकि समग्र वेदाध्ययन का विधान करने पर स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह वाक्य भी ज्योतिष्टोमादि वाक्य के समान एक वेद का वाक्य हुआ। इस दृष्टि से अङ्ग होने मात्र से यदि अप्रामाण्य माना जाय तो अध्ययन विधि भी अप्रामाणिक होगी। तब इस अप्रामाणिक अध्ययन विधायक वाक्य के द्वारा अध्ययन करना ही व्यर्थ होगा। इसके समाधान में शङ्कापक्षियों ने कहा है कि यह अध्ययन विधायक वाक्य किसी अन्य विधि का अङ्ग न होकर अपना ही अंग हो रहा है।

अर्थ—अन्य सूत्र की अवतारणा करते हुए यह शंका होती है कि यदि अध्ययन को अदृष्ट रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये माना जाय तो कर्म में विहित

'अध्येतव्यः' इति कर्मवाची तव्यप्रत्ययो विरुध्येत इत्यत आह—

'सक्तुवत् करणपरिणामः ।' इति ।

'सक्तूञ्जुहोति' इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तून् उद्दिश्य होमसंस्कारविधाने प्रतीयमानेऽपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र विनियोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा सक्तुभिर्जुहोतीति करणपरिणामः कृतः । एवमत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योरसम्भवात् स्वाध्यायेन अधीयीत इति वाक्यपरिणामः कर्तव्यः ।

अधि उपसर्ग ईङ् धातु से तव्य प्रत्यय का विरोध होगा, क्योंकि कर्मकारक रूप स्वाध्याय में किसी प्रकार के फल की स्थिति नहीं है अर्थात् कार्यभूत स्वाध्याय में फल का अभाव है। इसी का उत्तर देते हुए कहा है—सक्तु की तरह करण में परिणाम कर लेना चाहिए। सक्तुञ्जुहोति में सक्तुम् इस कर्म का प्रयोग होने से प्रधानभूत सक्तु को उद्दिष्ट कर इसके द्वारा होम संस्कार को उद्दिष्ट कर इससे होम संस्कार का विधान होता है, यह प्रतीत होता है, किन्तु होम से संस्कृत भस्मीभूत सक्तु का अन्यत्र विनियोग न होने के कारण कर्म की प्रधानता को छोड़कर सक्तुम् इस कार्य को करण में विपरिणाम कर सक्तुं न जुहोति को सक्तुभिर्जुहोति यह माना जाता है। इसी प्रकार प्रदर्शित कारणों से अध्येतव्य के कर्म स्वाध्याय में संस्कार और प्राप्ति की सम्भावना न होने से स्वाध्याय इस कर्म को करण में परिवर्तित कर स्वाध्यायेन अधीयीत इस रूप में वाक्य का परिणाम कर अर्थ की अवगति करनी चाहिये।

शारदी—आशय यह है कि अध्ययन का अदृष्ट फल मानने पर स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस प्रयोग में व्याकरण सिद्धान्त का विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि अध्येतव्य. यह अधि उपसर्ग ईङ् धातु से कर्म में तव्य प्रत्यय कर अध्येतव्यः यह सिद्ध होता है। यह तव्य प्रत्यय कर्म में होगा। संस्कार विकार आदि फल कर्म में होना चाहिये। स्वाध्याय अध्ययन से संस्कार प्राप्ति आदि फल की प्राप्ति स्वर्गरूप फल या अर्थवाद फल के अतिदेश से स्वाध्याय का सम्बन्ध न होने से कर्मवाच्य तव्य प्रत्यय की अनुपपत्ति होने से अदृष्ट फल नहीं माना जा सकता है।

इदानीं दृष्टफले सति अदृष्टफलं न कल्प्यमिति सिद्धान्तयति—
'दृष्टे तु नादृष्टम्' ।' इति ।
किं तद् दृष्टफलमिति तदाह—
'दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ' इति ।
अक्षरप्राप्तेः परम्परया पुरुषार्थत्वमाह—
'प्राप्त्यार्थबोधः' इति ।

इस व्याकरण सम्बन्धी दोष के समाधान में पूर्वपक्षी का कहना है कि सक्तून् जुहोति इस वाक्य में सक्तु हवन क्रिया का कर्म है, प्रधानभूत सक्तु का उद्देश्य कर होमरूप संस्कार का विधान किया गया है। प्रकृत में सक्तु का संस्कार ही होमकरण से अपेक्षित है, किन्तु सक्तु से होम करने पर सक्तु भस्म हो जायेगा, सक्तु राख होने पर अस्तित्व शून्य सक्तु का संस्कार और आगे के यज्ञ में संस्कृत सक्तु का विनियोग नहीं हो सकता है। इसलिये जुहोति के कर्म के रूप सक्तु का संस्कार सम्भव नही है। अतः, कर्म का करण मे विपरिणाम कर सक्तुभिः जुहोति यह स्वरूप मानकर सक्तु करणक होम से इष्ट की भावना करें—यह समन्वय किया जाता है, इसी तरह प्रकृतमें भी स्वाध्याय को करण के रूप में परिवर्तन से 'स्वाध्यायेन अधीयीत इस प्रकार विपरिणाम कर स्वाध्याय अध्ययन से अदृष्ट की प्राप्ति करे। मान कर समन्वय किया जाता है। अतः स्वाध्याय अध्ययन का अदृष्ट रूप फल मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

अर्थ—अदृष्ट फल मानने पर पूर्वोक्त आपत्तियों का प्रदर्शन कर अध्ययन का जब दृष्ट फल हो सकता है; तब अदृष्ट फल की कल्पना समीचीन नहीं हैं, इसलिये अध्ययन के अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इस सिद्धान्त को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है 'दृष्ट (फल) रहने पर अदृष्ट (फल) नहीं (मानना चाहिये)। यदि यह प्रश्न हो कि क्या दृष्ट फल है? इसके उत्तर में कहा गया है कि अक्षर प्राप्ति और संस्कार यही अध्ययन के दृष्ट फल हैं। अक्षर प्राप्ति के परम्परा क्रम में पुरुषार्थ माना गया है। जैसा कि पहले विश्लेषण किया गया था प्राप्ति से अर्थबोध होता है और अर्थज्ञान होने से स्वर्गादि फल को उद्दिष्ट कर ज्योतिष्टोम आदि यागों में प्रवृत्ति होती है।

'अध्येतव्यः' इति कर्मवाची तव्यप्रत्ययो विरुध्येत इत्यत आह—

'सक्तुवत् करणपरिणामः ।' इति ।

'सक्तूञ्जुहोति' इत्यत्र कर्मत्वेन प्रधानभूतान् सक्तून् उद्दिश्य होमसंस्कारविधाने प्रतीयमानेऽपि होमसंस्कृतानां भस्मीभूतानां सक्तूनामन्यत्र विनियोगाभावात् कर्मप्राधान्यं हित्वा सक्तुभिर्जुहोतीति करणपरिणामः कृतः । एवमत्रापि कर्मगतयोः संस्कारप्राप्त्योरसम्भवात् स्वाध्यायेन अधीयीत इति वाक्यपरिणामः कर्तव्यः ।

अधि उपसर्ग ईङ् धातु से तव्य प्रत्यय का विरोध होगा, क्योंकि कर्मकारक रूप स्वाध्याय में किसी प्रकार के फल की स्थिति नहीं है अर्थात् कार्यभूत स्वाध्याय में फल का अभाव है । इसी का उत्तर देते हुए कहा है—सक्तु की तरह करण में परिणाम कर लेना चाहिए । सक्तुञ्जुहोति में सक्तुम् इस कर्म का प्रयोग होने से प्रधानभूत सक्तु को उद्दिष्ट कर इसके द्वारा होम संस्कार को उद्दिष्ट कर इससे होम संस्कार का विधान होता है, यह प्रतीत होता है, किन्तु होम से संस्कृत भस्मीभूत सक्तु का अन्यत्र विनियोग न होने के कारण कर्म की प्रधानता को छोड़कर सक्तुम् इस कार्य को करण में विपरिणाम कर सक्तुं न जुहोति को सक्तुभिर्जुहोति यह माना जाता है । इसी प्रकार प्रदर्शित कारणों से अध्येतव्य के कर्म स्वाध्याय में संस्कार और प्राप्ति की सम्भावना न होने से स्वाध्याय इस कर्म को करण में परिवर्तित कर स्वाध्यायेन अधीयीत इस रूप में वाक्य का परिणाम कर अर्थ की अवगति करनी चाहिये ।

शारदी--आशय यह है कि अध्ययन का अदृष्ट फल मानने पर स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस प्रयोग में व्याकरण सिद्धान्त का विरोध उपस्थित होता है, क्योंकि अध्येतव्य. यह अधि उपसर्ग ईङ् धातु से कर्म में तव्य प्रत्यय कर अध्येतव्यः यह सिद्ध होता है । यह तव्य प्रत्यय कर्म में होगा । संस्कार विकार आदि फल कर्म में होना चाहिये । स्वाध्याय अध्ययन से संस्कार प्राप्ति आदि फल की प्राप्ति स्वर्गरूप फल या अर्थवाद फल के अतिदेश से स्वाध्याय का सम्बन्ध न होने से कर्मवाच्य तव्य प्रत्यय की अनुपपत्ति होने से अदृष्ट फल नहीं माना जा सकता है ।

इदानीं दृष्टफले सति अदृष्टफलं न कल्प्यमिति सिद्धान्तयति—
'दृष्टे तु नादृष्टम्'।' इति।
किं तद् दृष्टफलमिति तदाह—
'दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ' इति।
अक्षरप्राप्तेः परम्परया पुरुषार्थत्वमाह—
'प्राप्त्यार्थबोधः' इति।

इस व्याकरण सम्बन्धी दोष के समाधान में पूर्वपक्षी का कहना है कि सक्तून् जुहोति इस वाक्य में सक्तु हवन क्रिया का कर्म है, प्रधानभूत सक्तु का उद्देश्य कर होमरूप संस्कार का विधान किया गया है। प्रकृत में सक्तु का संस्कार ही होमकरण से अपेक्षित है, किन्तु सक्तु से होम करने पर सक्तु भस्म हो जायेगा, सक्तु राख होने पर अस्तित्व शून्य सक्तु का संस्कार और आगे के यज्ञ में संस्कृत सक्तु का विनियोग नहीं हो सकता है। इसलिये जुहोति के कर्म के रूप सक्तु का संस्कार सम्भव नही है। अतः, कर्म का करण मे विपरिणाम कर सक्तुभिः जुहोति यह स्वरूप मानकर सक्तु करणक होम से इष्ट की भावना करें—यह समन्वय किया जाता है, इसी तरह प्रकृतमें भी स्वाध्याय को करण के रूप में परिवर्तन से 'स्वाध्यायेन अधीयीत इस प्रकार विपरिणाम कर स्वाध्याय अध्ययन से अदृष्ट की प्राप्ति करे। मान कर समन्वय किया जाता है। अतः स्वाध्याय अध्ययन का अदृष्ट रूप फल मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

अर्थ—अदृष्ट फल मानने पर पूर्वोक्त आपत्तियों का प्रदर्शन कर अध्ययन का जब दृष्ट फल हो सकता है; तब अदृष्ट फल की कल्पना समीचीन नहीं हैं, इसलिये अध्ययन के अदृष्ट फल की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इस सिद्धान्त को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है 'दृष्ट (फल) रहने पर अदृष्ट (फल) नहीं (मानना चाहिये)। यदि यह प्रश्न हो कि क्या दृष्ट फल है? इसके उत्तर में कहा गया है कि अक्षर प्राप्ति और संस्कार यही अध्ययन के दृष्ट फल हैं। अक्षर प्राप्ति के परम्परा क्रम में पुरुषार्थ माना गया है। जैसा कि पहले विश्लेषण किया गया था प्राप्ति से अर्थबोध होता है और अर्थज्ञान होने से स्वर्गादि फल को उद्दिष्ट कर ज्योतिष्टोम आदि यागों में प्रवृत्ति होती है।

न च भोजनादिवद् अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात् विधिवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्। अवघातादिवन्नियमादृष्टाय विध्युपपत्तेरित्याह—

'विधिर्निष्पत्त्या:' इति।

यत्तूक्तं संस्कृतस्य स्वाध्यायस्य विनियोगादर्शनान्न संस्कार इति, तत्राह—

'संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात्' इति।

क्रतुविधयो हि विषयावबोधमपेक्षमाणास्तदवबोधे स्वाध्यायं विनियुञ्जते। अध्ययनविधिश्च लिखितपाठादिव्यावृत्त्या अध्ययन-संस्कृतत्वं स्वाध्यायस्य गमयति। अत उभयोपादानात् तत्सिद्धिः।

इसलिए अक्षर प्राप्ति परम्परया पुरुषार्थ प्राप्ति है। यदि यह कहा जाय कि जैसे भोजन करने से तृप्ति होती है, भोजन और तृप्ति इन दोनों में अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है। उसी प्रकार अध्ययन से अक्षर ग्रहण होगा और अध्ययन न करने से अक्षर का ग्रहण नहीं होगा। अतः स्वाध्यायाध्ययन को अक्षर-ग्रहणार्थ विधि मानने की आवश्यकता नहीं है। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि यह शङ्का समीचीन नहीं है, क्योंकि जिस तरह व्रीहीन् अवहन्ति इस नियम विधि को मानने से व्रीहि को अवहनन से निष्तुषीकरण करना चाहिये, नख आदि के विदलन के द्वारा नहीं करना चाहिये, क्योंकि अवघात के द्वारा व्रीहि का तण्डुल सम्पादन अदृष्टार्थक होता है। इसलिए नियम विधि मानना समीचीन ही है। वैसे भी प्रकृत में भी अध्ययन अर्थात् गुरुमुख उच्चारण पूर्वक अनुच्चारण अध्ययन से भी प्राप्त हो सकता है और विहित पाठ अध्ययन के द्वारा भी प्राप्त हो सकता है।

किन्तु स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि को मानने पर अध्ययन से ही अक्षर की प्राप्ति माननी चाहिये, इस रूप में विधि की निष्पत्ति हो जाने से यह कहा गया था कि संस्कृत स्वाध्याय का किसी यज्ञ में विनियोग न होने के कारण संस्कार को अध्ययन का दृष्ट फल नहीं माना जा सकता है। इसका उत्तर देते हुए कहा है अध्ययन विधि और क्रतु विधि इन दोनों के उपादान से संस्कार की सिद्धि होती है। क्योंकि यज्ञ की विधियाँ विषय के ज्ञान की अपेक्षा करती हुई

उसके अवरोध के लिए स्वाध्याय का विनियोग करती है और अध्ययन विधि लिखित पाठ आदि के द्वारा अक्षर प्राप्ति को व्यावृत्त कर अध्ययन के द्वारा स्वाध्याय को संस्कृत होना सिद्ध करती है। अतः दोनों के उपादान से उसकी सिद्धि होती है।

शारदी—आशय यह है कि यदि उसके रहने पर अर्थात् कार्य के रहने पर कारण का रहना रूप अन्वय एवं करण के अभाव में कार्य का रहना व्यतिरेक से ही अक्षर प्राप्ति रहने पर अध्ययन रूप कारण का रहना एवं अध्ययन रूप कारण के न रहने पर कारण का न रहना सिद्ध होता है। अर्थात् इस अन्वय-व्यतिरेक से ही अक्षर प्राप्ति भी सिद्ध होती है। इस अन्वय-व्यतिरेक से विधि के विना ही अक्षर प्राप्ति के प्रति अध्ययन की करणता सिद्धहो जाती है। जैसे तृप्ति के प्रति भोजन कारण है। अतः तृप्ति रहने पर भोजन रूप कारण का सद्भाव और भोजन न रहने पर तृप्ति कारण का अभाव है। यह परस्पर कार्य कारण भाव अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है। इसलिए तृप्ति को उद्दिष्ट कर भोजन के विधान की आवश्यकता नहीं होती है। उसी तरह अक्षर प्राप्ति को उद्दिष्ट कर अध्ययन के विधान की आवश्यकता नहीं होती है।

सिद्धान्तपक्षी ने इसका समाधान स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस नियम विधि से किया है। जैसे पक्ष में यदि कुछ प्राप्य रहता है तो वहाँ नियम विधि मानने पर उभयत्र ही कारणता सिद्ध होती है। जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह एक विधि है। धान का छिलका हटाने के लिये अवघात इसके द्वारा विहित होता है। निष्तुषीकरण के लिये अवघात सर्वथा अप्राप्त नहीं है लोक व्यवहार से यह सिद्ध है कि अवघात के द्वारा ही निष्तुषीकरण होता है, किन्तु नखविदलन आदि के द्वारा भी निष्तुषीकरण सम्भव है। अतः अवघात में अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा निष्तुषीकरण की कारणता सिद्ध है, किन्तु फिर भी व्रीहीन् अवहन्ति यह विधि वाक्य लिखा गया है। अतः इसको नियम विधि माना गया है। निष्तुषीकरण-रूप फल उभयतः सिद्ध होने पर भी अन्य उपायों को छोड़कर सर्वत्र अवघात के द्वारा भी निष्तुषीकरण होने से अदृष्ट रूप फल होता है। उसको नियमापूर्व कहा जाता है। प्रकृत में अक्षर प्राप्ति में कारण भाव अत्यन्त अप्राप्य नहीं है किन्तु लिखित पाठादि के द्वारा भी अक्षर प्राप्ति सम्भव है। इसलिए स्वाध्यायोऽध्ये-

ननु संस्कारो नाम अदृष्टातिशयः। स च न स्वाध्यायगतः, तव्य-प्रत्ययेन स्वपदोपात्तकृत्यर्थभूताध्ययनोपरक्तापूर्वाभिधानात्। ततः कथं स्वाध्यायस्य संस्कृतत्वम् इति तत्राह—

'तव्यः कर्मगादृष्टवाची' इति।

अत्र तव्यप्रत्ययस्य कर्माभिधायितया कर्मकारकस्य स्वाध्यायस्य तव्यप्रत्ययं प्रति प्रकृत्यर्थादध्ययनादपि प्रत्यासन्नत्वात् स्वाध्यायगतमेव अपूर्वं तव्यप्रत्ययो वक्ति, अपूर्वस्य धात्वर्थजन्यत्वनियमेऽपि तदुपरक्तत्वानियमादिति भावः।

तव्यः इस नियम विधि को मानने से अध्ययन के द्वारा अक्षर प्राप्ति करने से नियमादृष्ट रूप फल होता है। अतः पाक्षिक प्राप्ति होने पर भी अध्ययन से ही अक्षर प्राप्ति करनी चाहिये। इससे अपूर्व की प्राप्ति होती है। इस रूप में स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि का पाठ है। अतः नियमादृष्टार्थक होने से विधि व्यर्थ नहीं है।

अर्थ—(यह शंका होती है) अदृष्ट विशेष ही तो संस्कार है और यह संस्कार स्वाध्यायगत नहीं हो सकता है, क्योंकि तव्य प्रत्यय अपने पद से गृहीत धात्वर्थरूप अध्ययन से सम्बद्ध हो अदृष्ट का प्रतिपादन करता है। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय कैसे संस्कृत हो सकता है? इस शंका के उत्तर में कहा गया है कि तव्य प्रत्यय कर्म में रहने वाले अदृष्ट का वाचक है। कर्म में तव्य प्रत्यय होने के कारण तव्य प्रत्यय कर्म का अनुमान करता है। अध्येतव्यः का कर्म स्वाध्याय है। अतः कर्म कारक भूत स्वाध्याय तव्य के प्रति प्रकृत्यर्थभूत है। यह उस अध्ययन की अपेक्षा अधिक सन्निहित है। स्वाध्यायगत अदृष्ट का ही तव्य प्रत्यय के द्वारा अभिधान होता है। अपूर्व धात्वर्थ-जन्य होता है। ऐसा नियम रहने पर भी ऐसा कोई नियम नहीं है कि अपूर्व धात्वर्थ से ही सम्बद्ध होता है।

शारदी—आशय यह है कि 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' ज्योतिष्टोम याग का सम्पादन कर स्वर्ग प्राप्त करे, आदि जो याग विषयक विधियाँ हैं। वे भिन्न-भिन्न याग से सम्बद्ध विषय के ज्ञान की अपेक्षा करती है और वह ज्ञान स्वाध्याय के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। फलतः पूर्वोक्त ज्ञान के लिये स्वाध्याय

आवश्यक है क्योंकि ज्योतिष्टोम याग से स्वर्गरूप फल होता है। यह अवगति होने पर भी यह इच्छा होती है कि ज्योतिष्टोम याग के सम्पादन के प्रकार का ज्ञान कर उस ज्ञात पद्धति के अनुसार ज्योतिष्टोम याग का सम्पादन कर स्वर्ग-रूप फल की प्राप्ति करें। ज्योतिष्टोम याग सम्पादन पद्धति का ज्ञान वेद से ही अर्थात् स्वाध्याय से ही हो सकता है। अतः स्वर्गादि फल साधक स्वाध्याय आवश्यक हुआ। पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ विधियाँ वेद की प्राप्ति के लिये प्रेरित करती हैं। वेद का अध्ययन गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण पूर्वक भी हो सकता है और लिखित पाठादि से भी हो सकता है, किन्तु स्वाध्याय विधि लिखित पाठ आदि से अध्ययन का निषेधकर स्वाध्यायोऽध्येतव्यः लिखित पाठ की व्यावृत्ति कर गुरुमुखोच्चारणपूर्वकानुच्चारण से ही स्वाध्याय की प्राप्ति करनी चाहिये—ऐसा नियमन करता है। इस नियम विधि से स्वाध्याय संस्कृत होता है और इससे नियमादृष्ट की उत्पत्ति होती है।

फलतः नियमित अध्ययन के द्वारा संस्कृत स्वाध्याय ही याग के सम्पादक होते हैं। ऐसी स्थिति में लिखित पाठादि के द्वारा अपने वेद का अध्ययन कर यागादि के सम्पादन करने पर उससे स्वर्गरूप फल की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् अनुष्ठित यज्ञ निष्फल होगा। पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि संस्कृत स्वाध्याय जो अध्ययन विधि के द्वारा विहित है उससे ही अनुष्ठान करना चाहिये; इसलिये शंकापक्षी का कथन है कि संस्कृत स्वाध्याय का विनियोग नहीं है। यह प्रलाप मात्र है। इस तरह अक्षर प्राप्ति और संस्कार दोनों ही अध्ययन का दृष्ट फल है। यह कथन कि गुरुमखोच्चारणपूर्वकानुच्चारण से उत्पन्न होनेवाला दृष्टार्थ स्वाध्याय से संबद्ध नहीं है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तव्य प्रत्यय अदृष्ट का बोधक है और इस प्रत्यय के द्वारा कथित अदृष्ट स्वाध्याय की अपेक्षा अध्ययन से अधिक सन्निहित है। क्योंकि अध्ययन अध्येतव्य के द्वारा पद से कथित है। अतः स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि वाक्य का अवलोकन करने से यह अवगत हो रहा है। स्वाध्याय की अपेक्षा अध्ययन असन्निहित है, क्योंकि स्वाध्याय को भिन्न पद से कहा जा रहा है, इसलिये तव्य के द्वारा कथित अदृष्ट अध्ययन से सम्बद्ध होगा स्वाध्याय से नहीं, इसलिये स्वाध्याय का

यच्चोक्तम् 'अन्याङ्गं नार्थप्रमापकम्' इति, तदसत्, यतो मन्त्राणां स्वतन्त्रादृष्टशेषाणां तथात्वं युज्यते। इह तु स्वाध्यायाश्रितमदृष्टम्; तस्य च स्वाध्यायगताक्षरसामर्थ्यसिद्धार्थावबोधे फले सति फलान्तर-कल्पनायोगात् प्रामाण्यस्य उपबृंहकमेव अदृष्टम्, न तु प्रतिबन्धक-मित्याह—

'स्वतन्त्रादृष्टाशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिबध्यते' इति।

सक्तुन्यायेन कर्मकारकप्राधान्ये परित्यक्ते स्वतन्त्रादृष्टमेव अत्रापि स्यादित्यत्राह--

---

संस्कार होता है। यह भी कथन ठीक नहीं। इसके समाधान में यह कहा गया है कि कार्य में तव्य प्रत्यय होने के कारण तव्य का वाच्यार्थ कर्म होगा। अतः अध्ययन के कर्म स्वाध्याय से ही इसका सम्बन्ध होगा। अतः अध्ययन की अपेक्षा कर्मभूत स्वाध्याय से ही यह अधिक सन्निहित है। अपूर्व धात्वार्थ से ही उत्पन्न हुआ किन्तु उत्पत्ति भले ही उससे हो वह धात्वर्थ से ही सम्बद्ध रहेगी ऐसा नियम है। अतः प्रकृत में धात्वर्थ से उत्पन्न अदृष्ट स्वाध्याय से सम्बद्ध रहता है। जैसे व्रीहीन् प्रोक्षति इस वाक्य में प्रोक्ष का कर्म व्रीहि है। व्रीहि प्रधान अप्रोक्षण उसका अंग हुआ अर्थात् प्रोक्षण के द्वारा व्रीहि का संस्कार करें। प्रोक्षण धात्वर्थ है और संस्कार कर्मभूत व्रीहि का होता है। अतः प्रत्यय से अविहित प्रोक्षण से जन्य अदृष्ट का सम्बन्ध व्रीहि से होता है प्रोक्षण से नहीं।

अर्थ--पूर्व में यह कहा गया है कि दूसरे का अंग अपने अर्थ मे प्रमाण नहीं होता है अर्थात् अन्य के अंग का प्रामाण्य नहीं रहता है। यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि मन्त्र यदि स्वतन्त्र अदृष्ट का अंग होता तो स्वार्थ में उसका प्रामाण्य नहीं रहता। प्रकृत में यह अन्य में आश्रित नहीं है वरन् स्वाध्याय में ही अदृष्ट आश्रित है और स्वाध्यायगत अक्षर ग्रहण के सामर्थ्य से सिद्ध अर्थज्ञान रूप फल के रहने पर किसी अन्य फल की कल्पना करना ठीक नहीं है। इसलिये अपूर्व मन्त्रों के स्वार्थ में प्रामाण्य का परिपोषक है। उसका प्रतिबन्ध नहीं करता है। इसी को कहा गया है स्वतन्त्र अदृष्ट का शेष न होने से मन्त्रों का स्वार्थ में

'यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः' इति।

सक्तुषु गत्यभावात् श्रुतं परित्यज्य अश्रुतं कल्प्यतां नाम। नेह तद् युक्तं प्रदर्शितत्वादित्यर्थः।

इत्थमध्ययनविधेर्दृष्टार्थत्वं प्रसाध्य अर्थावबोधपर्यन्ततां निराकर्तुं पूर्वपक्षयति –

'वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरुविधेः पुमर्थावसनात्' इति।

सर्वत्र विधेः पुरुषार्थपर्यवसायित्वनियमाद् अत्रापि पुरुषार्थभूतं फलवदर्थनिश्चयमयमध्ययनविधिप्रयुक्तं भट्टगुरू मन्येते।

प्रमाण का प्रतिबन्ध नहीं होता है। पूर्वोक्त में यह भी शंका की गई थी कि सक्तुन्याय से कर्मकारक की प्रधानता का परित्याग होने से यहाँ स्वतन्त्र अदृष्ट होगा। इसके समाधान में कहा गया है कि यथाश्रुति की उत्पत्ति होने के कारण सक्तुन्याय यहाँ ठीक नहीं है। श्रुत का परित्याग कर अश्रुत की कल्पना सक्तु विषय में अन्य उपाय न होने के कारण स्वीकार किया गया है। किन्तु प्रकृत में जैसा कि पूर्व में प्रदर्शित किया गया है उसके अनुसार श्रुत को छोड़कर अश्रुत की कल्पना उचित नहीं है। इस तरह अध्ययन विधि से दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि प्रदर्शित कर यह अध्ययन विधि अर्थज्ञान पर्यन्त नहीं हो सकती है। इसके प्रतिपादन के लिये शंकापक्ष के रूप में कहा गया है कि अध्ययन विधि का क्षेत्र अर्थज्ञान तक है। विधि का पुरुषार्थ में पर्यवसान होने से अर्थनिर्णय विधि से विहित है। यह कुमारिलभट्ट और प्रभाकर ने स्वीकार किया है। कुमारिलभट्ट और प्रभाकर ने कहा है कि विधि का पुरुषार्थ में पर्यवसान होता है। यह नियम रहने से प्रकृत में भी पुरुषार्थभूत फलयुक्त अर्थनिश्चय अध्ययनविधि के द्वारा विहित है।

शारदी--आशय यह है कि शङ्कापक्षियों ने कहा था कि विष उतारने के विष निवारण रूप कार्य में विनियुक्त होकर भी अपने अर्थ में प्रमाण नहीं रहते। इसी तरह वेद के मन्त्र भी अध्ययन क्रिया के अङ्ग होकर भी अपने अर्थ में प्रमाण नहीं होंगे। किन्तु सिद्धान्ती ने इसके समाधान में कहा है कि मन्त्र यदि किसी दूसरे स्वतन्त्र अदृष्ट का अङ्ग होता तो अपने अर्थ में प्रमाण

ननु सकृदध्ययनाद् आवृत्तिसहिताद् वा अर्थनिश्चयो नोपलभ्यते इत्याशङ्क्य, तथा सति तत्सिद्धये सोऽध्ययनविधिरर्थनिश्चयहेतुं विचारं कल्पयिष्यति इत्याह—

नहीं होता। प्रकृत में अध्ययन के द्वारा जो अदृष्ट उत्पन्न होता है और वह मन्त्र समुदाय स्वरूप स्वाध्याय के आश्रित है एवं अदृष्ट भी मन्त्रात्मक स्वाध्याय के आश्रित है। ऐसी स्थिति में मन्त्र अदृष्ट अङ्ग कैसे हो सकते हैं? दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय रूप अक्षरों के सामर्थ्य से अर्थावगतिरूप फल होता है। अतः इस दृष्ट फल के सिद्ध होने से मन्त्रों का अन्य फल नहीं माना जा सकता। स्वाध्यायाश्रित अपूर्व स्वाध्याय के अर्थ का पोषण करता है प्रतिबन्ध नहीं।

यह शङ्का की गई थी कि सक्तून् जुहोति इस वाक्य की तरह स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह वाक्य स्वाध्यायेन अधीयीत इस रूप में करण कारक के रूप में परिणत होता है। फलतः अध्ययन से उत्पन्न अदृष्ट स्वाध्यायाश्रित न होकर स्वतन्त्र अदृष्ट होते हैं और ज्योतिष्टोम अदृष्ट के अङ्ग होते हैं। और अन्य का अङ्ग होने से वे अपने अर्थ में अप्रमाण हो जायेंगे। इसका समाधान करते हुए सिद्धान्तपक्षी का कथन है कि सक्तून् जुहोति न्याय का यहाँ अवसर ही नहीं है, क्योंकि वहाँ अन्य गति न रहने के कारण करण में परिवर्तन आवश्यक हो गया, क्योंकि संस्कृत सक्तु अस्तित्वहीन हो जाते हैं। अतः आगे के लिये भी उनका विनियोग सम्भव नहीं है, किन्तु स्वाध्याय में ऐसी अगतिकगति नहीं है कि करण में परिवर्तन करने के लिये बाध्य है। यह नियम है कि श्रुत अर्थ को छोड़कर अश्रुत की कल्पना नहीं करनी चाहिये। प्रकृत में अध्ययन की प्राप्ति करे अथवा अध्ययन के द्वारा स्वाध्याय को संस्कृत करे। इस रूप में अध्ययन का दृष्ट फल अक्षर प्राप्ति और संस्कार है। ज्योष्टिोमादि स्वतन्त्र अदृष्ट के अङ्ग नहीं हैं कि उनका अपने अर्थज्ञान में प्रामाण्य माना जाय। फलतः अक्षर प्राप्ति अक्षरज्ञान का साधन होने से पुरुष के द्वारा अर्थज्ञान है। इसलिये दृष्ट ही अध्ययन का फल है।

अर्थ—प्रकृत में यह आशंका की जा सकती है कि जो विधि होती है वह विधेय और उस विधेय के उपकारक की ही प्रयोजक होती है यह एक सामान्य

'स विचारमाक्षिपेत्' इति ।

ननु स्वविधेयतदुपकारिणोरेव विधिः प्रयोजक इति सर्वत्र नियमः, तथा सति अतादृशं कथमत्र अध्ययनविधिराक्षेप्स्यतीत्याह—

'अविधेयानुपकार्याक्षेपोऽत्रघातावृत्तिवत्' इति ।

'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यत्र अवघातमात्रं विधेयम्, न तु तदावृत्तिः, तस्या अधात्वर्थत्वात् । नापि सा विधेयोपकारिणी, अन्तरेण आवृत्ति सकृन्मुसलघातमात्रादवघातसिद्धेः । तथापि तण्डुलनिष्पत्तिफलसिद्धये स विधिरावृत्ति यद्वद् आचिक्षेप तद्वत् प्रकृतेऽपि अवगन्तव्यम् ।

ननु वेदमात्राध्यायिनोऽर्थाविबोधानुदयेऽपि व्याकरणाद्यङ्गसहित-

नियम है । इस स्थिति में अध्ययन विधि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह अध्ययन विधि जो न विधेय है और न उसका उपकारक है उस विचार का आक्षेप कैसे कर सकती है इस सन्देह के उत्तर में कहा गया है कि विधि अविधेय है और जो अनुपकारी अर्थात् जो उपकारक नहीं है, उनका भी आक्षेप कर लेती है, जैसे अवघात की आवृति अर्थात् अवघात का पुनः पुनः अवहनन । 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह एक विधि वाक्य है । इस विधिवाक्य के द्वारा व्रीहि का अवघात विहित है, किन्तु इस विधि वाक्य के द्वारा अनेक बार अवघात करना चाहिये । क्योंकि आवृत्ति अवहनन अर्थात् अव उपसर्ग 'हन् धातु का अर्थ नहीं है । इस तरह आवृत्ति धात्वर्थ न होने से अविधेय है, साथ ही अव-हन्ति के द्वारा विधेय जो अवहनन है । उसका उपकार भी आवृत्ति के द्वारा नहीं हो रहा है । यद्यपि आवृत्ति के विना एक बार मूसल से अवघात करने से ही विहित अवघात सिद्ध हो जाता है तथापि धान का निष्तुषीकरण अर्थात् धान के छिलके को हटाकर तण्डुल की निष्पत्ति रूप फल की सिद्धि के लिये जिस तरह वह विधि अवघात की आवृत्ति का आक्षेप करती है उसी तरह स्वाध्यायोऽध्येतव्यः विचार रूप अर्थ का अर्थ निश्चय रूप फल की सिद्धि के लिये स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि से आक्षेप हो जायेगा । वेद के अदृष्टमात्र फल अर्थात अर्थज्ञान स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि के द्वारा विहित न होने पर भी वेद मात्र का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को अर्थ का ज्ञान न होने पर भी

वेदाध्यायिनस्तदुदयसद्भावात् तं प्रति व्यर्थं विचारं विधि र्न कल्पये-दित्याशङ्क्य अर्थगतविरोधपरिहाराय अपेक्षित एव विचार इत्याह--

'साङ्गाध्ययनात् तद्भावे विचारोऽर्थविरोधमापनुत्' इति ।

सिद्धान्तयति--

'प्रप्तेस्तु गवादिवत् पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः' इति ।

यथा फलभूतस्य क्षीरादेर्हेतवो गवादयोऽपि पुरुषैरर्थ्यन्ते, तथा फलवदर्थावबोधहेतोरक्षरप्राप्तेरपि पुरुषार्थत्वात् अध्ययनविधिरक्षर-प्राप्त्यवसानोऽत्रगन्तव्यः ।

ननु अक्षरप्राप्तेः पुरुषार्थत्वं फलवदर्थावबोधप्रयुक्तं चेत् तर्हि तद्-बोधस्य मुख्यपुरुषार्थत्वाद् बोधान्त एव विधिः किं न स्यादित्यत आह-

'फलवद् बोधान्तत्वेऽध्ययनाकात्स्न्र्यम्' इति ।

व्याकरण आदि छहों अङ्गों के साथ वेदाध्ययन करने वाले व्यक्ति को अर्थज्ञान हो जायेगा अर्थात् अर्थज्ञान रूप फल की सिद्धि के लिये विचार की आवश्कता है। अतः विचार का आक्षेप होता है। इसके उत्तर में उनका कहना है कि अर्थज्ञान की सिद्धि न होने पर भी जो व्यक्ति वेदांग का अध्ययन करता है उसको अर्थज्ञान हो जाता है। अतः विचार के आक्षेप की आवश्यकता नहीं है। षडङ्ग वेदाध्ययन से अर्थज्ञान हो जाने पर विचार से आपाततः प्राप्त जो अर्थों का विरोध है, उसका निवारण होता है।

सिद्धान्त

प्रस्तुत शङ्कापक्ष के सिद्धान्त में कहा गया है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह विधि अक्षर ग्रहण मात्र के लिये नहीं है अर्थात् इस विधि के द्वारा अक्षर का ग्रहण मात्र ही अभीष्ट नहीं है; क्योंकि गो आदि के समान प्राप्ति के पुरुषार्थ होने पर भी विधि तत्पर्यन्त है, जैसे गो आदि पुरुषों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं; क्योंकि दुग्ध आदि जो फल है उस फल के साधन होने से। प्रकृत में उसी प्रकार अर्थज्ञान रूप फल के साधन भूत अक्षर प्राप्ति भी पुरुष के द्वारा प्रार्थित होने से अर्थात् पुरुषार्थ होने से स्वाध्याय विधि को अक्षर प्राप्ति तक ही सीमित रखना चाहिये अर्थात् अक्षर प्राप्ति ही पुरुषार्थ है।

अब यह प्रकृत में विचारणीय है कि अर्थज्ञान फल साधनभूत अक्षर प्राप्ति

बोधस्य हि फलं कर्मानुष्ठानम् । तथा सति यस्य ब्राह्मणादेर्यस्मिन् बृहस्पतिसंवादौ अधिकारस्तस्य तद्वाक्यमात्राध्ययनं स्यात्, न तु राजसूयादिवाक्याध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात् ।

स्वपक्षे तु नायं दोष इत्याह—

'कृत्स्नप्राप्तिर्जपार्था' इति ।

यदि पुरुषार्थहै तो अर्थज्ञान को ही मुख्य पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है । अतः अर्थावबोधपर्यन्त स्वाध्याय विधि का क्षेत्र मानना उचित होगा अर्थात् अर्थज्ञान साध्य होने से अक्षर प्राप्ति को पुरुषार्थ मानने पर प्रधानता अर्थज्ञान की होती है और अर्थज्ञान गौण हो जाता है । ऐसी स्थिति में अर्थज्ञान पर्यन्त अध्ययन विधि का विधेय मानना ही उचित है । इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि फलयुक्त अर्थज्ञान पर्यन्त स्वाध्याय विधि की विधेयता मानने पर अध्ययन की असमर्थता होती है ।

क्योंकि ज्ञान का फल कर्मानुष्ठान है । इस स्थिति में जिन ब्रह्मणादि का जिस वृहस्पतिसंवाद में अधिकार है वह उन्हीं वेदवाक्यों का अध्ययन करेंगे । उनसे अतिरिक्त वेद वाक्यों का अध्ययन नहीं करेगे क्योंकि उसके अध्ययन का फल नहीं है ।

शारदी—आशय यह है कि अर्थज्ञान पर्यन्त यदि अध्ययन विधि मानी जाय तो कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण वेद का अध्ययन नहीं करेगा, क्योंकि अर्थयुक्त वेदाध्ययन का प्रयोजन कर्मानुष्ठान है । सभी कर्मों के अनुष्ठान में सभी व्यक्तियों का अधिकार नही रहता । क्योंकि ऐसी स्थिति में ब्राह्मण अपने कर्मानुष्ठान के लिये अपेक्षित वेदांश का अध्ययन करेगा समग्र का नहीं । फलतः वह वृहस्पिति-सवादि प्रतिपादक वेदांश का अध्ययन करेगा । क्षत्रिय जिस कर्मानुष्ठान में अधिकृत हैं उस राजसूय आदि यज्ञ के प्रतिपादक वेदांश का अध्ययन नहीं करेगा, क्योंकि उसके अध्ययन में प्रवृत्ति का जो फल है, वह कर्मानुष्ठान का फल नहीं होगा ।

न च अबोधकत्वे अर्थबोध एव न सिध्येदिति शङ्कनीयम्, प्रमाणस्य प्रमेयबोधकत्वस्वाभाव्यात्, लौकिकाप्तवाक्यानामन्तरेणैव विधिं बोधकत्वदर्शनादित्याह--

'लोकवन्नैजो बोधः' इति।

ननु बोधस्य विधिफलत्वे बोधकाममुद्दिश्य विधातुं शक्यत्वात् सुलभोऽधिकारी स्यादित्याशङ्क्य, प्राप्तिपक्षेऽपि प्राप्तिकाम उपनीताष्टवर्षब्राह्मणोऽत्राधिकारी सुलभ एव इति परिहारं स्पष्टत्वादुपेक्ष्य काम्यत्वं दूषयति--

---

अर्थ--अतः अक्षर प्राप्ति ही स्वाध्यायाध्ययन विधि का विधेय । अक्षर प्राप्ति को ही स्वाध्याय का फल मानने पर पूर्वोक्त दोष नहीं है, क्योंकि जप के लिये सम्पूर्ण वेद के अध्ययन की प्राप्ति सिद्ध होती है। यदि यह शंका की जाय कि अध्ययन विधि अक्षर प्राप्ति मात्र की विधायिका हो अर्थात् अर्थ ज्ञान उसका विधेय न हो तब अर्थज्ञान की सिद्धि नहीं होगी। अर्थात् दूसरे शब्दों में वेद के शब्दों का अर्थ नहीं होगा, इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रमाण प्रमेय का बोधक होता है, प्रमेय-बोधकता प्रमाण का स्वभाव है, क्योंकि वेद भी शब्द प्रमाण है। यह शब्द प्रमाण रूप वेद किसी प्रमेय अर्थात् अर्थ का ज्ञान अवश्य करायेगा। जैसे लोक में व्यवहृत जो आप्त वाक्य हैं उनमें कोई विधि न रहने पर भी वे अर्थ के बोधक होते हैं अर्थात् लौकिक आप्त वाक्यों में किससे अर्थ बोध करें ऐसी विधि नहीं है फिर भी उनसे अर्थबोध होते हैं। प्रकृत में भी विधि को अक्षर ग्रहण पर्यन्त मानने पर भी अक्षर ज्ञान अवश्य ही होगा, इसलिये अक्षर ज्ञान में विधि मानने की आवश्यकता नहीं है। इस आशय से कहा गया है लोक व्यवहार की तरह अर्थज्ञान स्वाभाविक है। अब यह आशङ्का होती है कि बोध अर्थात् ज्ञान को विधि का फल मानने पर अर्थज्ञान की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को उद्देश्य कर स्वाध्याय विधान किये जाने पर अधिकारी सुलभ होगा। यह आशंका कर समाधान में कहा गया है कि अध्ययन को अक्षर ग्रहण की कामना रखने वाला अधिकारी सुलभ होगा, क्योंकि उपनीत आठ वर्ष का बालक इसका अधिकारी सुलभ ही है। इस परि-

'सोऽकाम्यः प्राग्बोध्यभानाभानयोः इति ।

बोध्यस्य अग्निहोत्रादिलक्षणवेदार्थस्य अध्ययनात् प्राक् सन्ध्योपासनादिवत् पित्राद्युपदेशत एव भाने सिद्धित्वादेव सोऽर्थबोधो न काम्यः । अभाने कामयितुमशक्यः, ज्ञाते एव विषये कामनानियमात् ।

ननु सामान्यतो ज्ञाते विशेषतो बुभुत्सा सम्भवति । यद्वा विशेषतोऽपि पित्राद्युपदेशात् अवगते सति औपदेशिकज्ञानस्य प्रामाण्यनिर्ण-

---

हार के सुस्पष्ट होने से इसकी उपेक्षा कर कामना का विषय ज्ञान को दूषित करते हैं । वह काम्य विषय नही है । चाहे वह पहले से ज्ञात हो या पहले से ज्ञात न हो ।

अग्निहोत्रादि रूप बोध्य वेद के अर्थ का सन्ध्योपासना आदि के समान अध्ययन से पहले पिता आदि के उपदेश से ही ज्ञात होने के कारण उसके सिद्ध होने से वह अर्थ कामना का विषय नहीं हो सकता है । यदि उसे अज्ञात माना जाय तब तो वह कामना का विषय नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञात ही विषय में कामना होती है यह सामान्य नियम है ।

शारदी—आशय यह है कि स्वध्याय विधि अर्थज्ञानपर्यन्त मानने पर अर्थज्ञान कामना का अधिकारी सुलभ हो जायेगा इसी विषय में अक्षरग्रहण पर्यन्त स्वाध्यायविधि का क्षेत्र मानाने वालों का कहना है कि अर्थज्ञान कामना का विषय किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता । सन्ध्योपासनादि ज्ञान के समान ही अग्निहोत्रादि रूप वेदार्थ का ज्ञान भी वटुक को पितादि के द्वारा पूर्व में ही हो जाता है किन्तु वह काम्य नहीं होता है । अतः अर्थज्ञान कामना का नियामक नहीं है । अग्निहोत्रादि रूप वेदार्थ का ज्ञान जिसको पूर्व से नहीं होता है उसके लिए वेदार्थ का ज्ञान काम्य हो ही नहीं सकता है । क्योंकि कामना के लिये वस्तु का ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है । फलतः ज्ञात और अज्ञात दोनों ही अवस्थाओं में काम्य नहीं हो सकती है ।

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि सामान्यतः ज्ञात वस्तु को भी विशेष रूप में जानने की इच्छा होती है अथवा विषय रूप से पिता आदि के उपदेश से ज्ञान प्राप्त वस्तु के ज्ञान के प्रामाण्य के निर्णय के लिये पुनः उसके जानने की इच्छा

याय पुनर्बोधकामना युक्तैव इत्याशङ्क्य, एवमपि अर्थावबोधमुद्दिश्य अध्ययनविधानं न सम्भवति इत्याह—

'उद्देशायोगात्' इति।

अग्निहोत्रादिविशेषज्ञानानां न तावदेकबुद्ध्या विशेषाकारेण उद्देशः सम्भवति, अनन्तत्वात्; सामान्याकारेण उद्देशे सामान्यमेव विधिफलं स्यात् न तु ज्ञानविशेषः। ततो नोद्देशो युक्तः।

उचित ही है। इस स्थिति में अर्थज्ञान को उद्देश्य कर अध्ययन का विधान सम्भव नहीं हो सकता है। इसी विषय को कहा है—उद्देशायोगात्।

अग्निहोत्र विषयक सामान्यज्ञान का एक बुद्धि के द्वारा विशेष आकार से उद्देश सम्भव न होगा, क्योंकि ज्ञान असीम है। यदि सामान्य रूप से उच्चारण मान लिया जाय तो सामान्य ज्ञान ही विधि का प्रयोजन होगा विशेष ज्ञान फल नहीं होगा, इसीलिए सूत्रकार ने कहा है उद्देश समीचीन नहीं है।

शारदी—आशय यह है कि अज्ञात विषय के जानने की इच्छा नहीं होती और ज्ञात विषय सिद्ध होने के कारण उसके भी जानने की इच्छा नहीं होती है यह सत्य है, किन्तु ज्ञात वस्तु को जानने की इच्छा हो सकती है, क्योंकि सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु को विशेष रूप से जानने की इच्छा होना स्वाभाविक है, जैसे अग्निहोत्रयाग का पिता आदि के उपदेश के द्वारा ज्ञात होने पर भी उसका क्या फल है, कौन अधिकारी है किस रूप में उसका अनुष्ठान किया जा सकता है, इत्यादि विषयों को जानने की इच्छा हो सकती है। दूसरी बात यह है कि पिता आदि के द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान होने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि उस ज्ञात विषय का प्रामाणिक ज्ञान वह स्वयं प्राप्त करे। उपदिष्ट ज्ञान की यथार्थता की दृष्टि से वेदाध्ययन में प्रवृत्ति स्वाभाविक है। अर्थज्ञान को उद्देश्य कर वेद वाक्यों का उच्चारण न मानने पर वेद का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं होगा। इस आशंका से कहा गया है कि उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति इनके द्वारा ज्ञान तात्पर्य ही शब्द के द्वारा सिद्ध होता है। इसी को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है—शब्द के द्वारा तात्पर्य अवगत होता है। यदि यह कहा जाय कि अर्थज्ञान को उद्देश्य कर शब्द का उच्चारण करना लोक में व्यर्थ हो जायेगा यह कथन

ननु अर्थावबोधमुद्दिश्य उच्चारणाभावे वेदस्य स्वार्थे तात्पर्यं न स्यादित्याशंक्य उपक्रमादिलिङ्गगम्यं तात्पर्यं शब्दबलादेव सिध्यति इत्याह—

'तात्पर्यं शब्दात्' इति ।

तर्हि अर्थज्ञानमुद्दिश्य शब्दोच्चारणं लोके व्यर्थं स्याद् इति चेत्, न, पुरुषसम्बन्धकृतदोषाख्यप्रतिबन्धपरिहारार्थत्वाद् इत्याह—

'उद्दिश्य उच्चारणं दोषघ्नं लोके' इति ।

ननु अध्ययनविधेर्बोधान्तत्वाभावे विचारकशास्त्रं न प्रवर्तेत, प्रयोजकाभावादित्याशंक्याह—

विचार उत्तरविधिप्रयुक्त उपपद्यते' इति ।

ठीक नहीं है। पुरुष के सम्बन्ध से दोषरूप प्रतिबन्ध के परिहार के लिये अर्थज्ञान को उद्देश्य कर शब्द का उच्चारण किया जाता है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है अर्थज्ञान को उद्देश्य कर दोष के निवारण के लिए उच्चारण किया जाता है। तात्पर्य निर्णय के लिये मात्र अर्थज्ञान ही कारण नहीं वरन् अर्थज्ञान के लिये पूर्वोक्त छः हेतुओं की सहायता अनिवार्य है।

अर्थ—शंकापक्षी का यह कथन है कि शब्द से ही वक्ता के तात्पर्य की अवगति हो जायेगी क्योंकि उपक्रम आदि के द्वारा अर्थज्ञान के बिना भी तात्पर्य ज्ञान हो सकता है। इसके समाधान में सिद्धान्तपक्षी का कथन है कि वैदिक वाक्य अपौरुषेय है। उसमें किसी तरह का भ्रम, प्रमाद आदि सम्भव नहीं है। शाश्वत होने के कारण वे सबके लिए समान हैं। उसके तात्पर्य में भेद नहीं हैं। अतः अर्थज्ञान वेद के तात्पर्यविधारण के लिये आवश्यक है अन्यथा लोक में जिस प्रकार वक्ता और श्रोता के तात्पर्य में भेद होता है उसी तरह वेद में भी तात्पर्य का भेद होने लगेगा।

अध्ययन विधि को अर्थज्ञान पर्यन्त न मानने पर प्रयोजक के अभाव में विचारशास्त्र की प्रवृत्ति भी नहीं होगी। यह आशंका भी उचित नहीं है। विचार शास्त्र आगे की विधियों से उपपन्न होता है।

शारदी—आशय यह है कि मीमांसकों का दो मत है। एक मत में स्वाध्याय विधि अक्षर ग्रहण मात्र का विधान करती है और दूसरे पक्ष में अर्थज्ञान पर्यन्त इसका क्षेत्र है। अर्थज्ञान होने के बाद अर्थ विरोध के निवारण

क्रतुबोधविधयः साङ्गवेदाध्ययनाद् आपातप्रतिपन्ना विरोधपरिहारेण प्रतिष्ठितं निर्णयज्ञानमन्तरेण अनुष्ठापयितुमशक्नुवन्तस्तन्निर्णयाय क्रतुविचारं प्रयोजयन्ति। श्रवणविधिस्तु साक्षादेव ब्रह्मविचारं विधत्ते। एवं च सति, श्रवणविधेः स्वविधेयप्रयोजकत्वं क्रतुविधीनां च विधेयोपकारिप्रयोजकत्वम् इत्युपपद्यतेतराम्। अध्ययनविधिप्रयुक्तिपक्षे तु तद्विधेः क्रतुद्वारा स्वर्गसिद्धिपर्यन्तत्वात् क्रत्वनुष्ठानस्यापि तत्प्रयुक्तौ क्रतुविधिवैयर्थ्यमापद्येत।

ननु अध्ययनविधेस्त्रैवर्णिकमात्रं प्रति नित्यत्वात् तत्प्रयुक्तौ

के लिये मीमांसा शास्त्र की आवश्यकता होती है। अतः मीमांसाशास्त्र की प्रयोजक भी अध्ययन विधि है। पुरुषार्थानुशासनकार की दृष्टि में अध्ययन विधि अर्थज्ञान तक नहीं वरन् अक्षर ग्रहण पर्यन्त तक है। ऐसी स्थिति में मीमांसाशास्त्र की प्रयोजक अध्ययन विधि नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में अंगों के साथ वेदाध्ययन करने पर आपाततः ज्ञात क्रतुविधि विरोध के परिहार के बिना प्रतिष्ठित निर्णयात्मक ज्ञान कराने में असमर्थ होती है। अतः वह अनुष्ठान कराने में असमर्थ होती हुई अपने विरोध के उपशमन एवं निर्णयात्मक ज्ञान के लिए क्रतुविचार की प्रयोजक होती है। श्रवणविधि (आत्मा के बारे श्रोतव्यः मन्तव्यः द्रष्टव्य निदिध्यासितव्यः) साक्षात् ब्रह्म विचार का विधान कर देती है। ऐसी स्थिति में श्रवण विधि अपने विधेय जो ब्रह्म विचार है उसकी प्रयोजक होती है और क्रतु विधि अपने विधेय यज्ञानुष्ठान का उपकारक करने वाले विचार शास्त्र की प्रयोजक होती है। अध्ययन विधि को विचारशास्त्र प्रयोजक मानने पर उस अध्ययन विधि को यज्ञ के द्वारा मुख्य पुरुषार्थभूत स्वर्ग की प्राप्ति पर्यन्त विधायक माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में यज्ञानुष्ठान अध्ययन विधि से ही प्रयुक्त होगी।

फलतः क्रतुविधायक विधि सर्वथा व्यर्थ हो जायेगी जो ठीक नहीं है। इसलिए अध्ययन विधि को विचार शास्त्र का प्रयोजक मानना उचित नहीं है।

चारस्यापि तल्लभ्येत, नान्यथेति चेत्? क्रतुविचारस्य त्रैवर्णिक-मात्रेऽपि नित्यत्वसिद्धिः किं वा ब्रह्मविचारस्य? तत्राद्योऽस्मन्मतेऽपि सम इत्याह--

'अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रैवर्णिकमात्रस्य' इति।

यतोऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात् क्रतवस्त्रैवर्णिकानां नित्या अत इत्यर्थः।

द्वितीयोऽनिष्ट इत्याह--

'ब्रह्मविचारः पुनः परमहंसस्यैव' इति।

नित्य इत्यनुषङ्गः।

ननु उक्तरीत्या अध्ययनस्य अक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञानमविहितं स्यात्? मैवम्, वाक्यान्तरेण तद्विधानात्--'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चे'ति (महाभाष्यपस्पशाह्निके) तद्विधिः। तत्र निष्कारणशब्दे अध्ययनज्ञानयोः काम्यत्वं निवार्यते।

अब यह विचारणीय है कि अध्ययन विधि द्विज अर्थात् तीनों वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के प्रति नित्य है अतः इस अध्ययन विधि से प्रयुक्त जो विचार है वह भी तीनों वर्णों के प्रति नित्य ही होगा। शंका पक्षी का कहना है कि विचार शास्त्र के अध्ययन विधि प्रयुक्त होने से ही यह लाभ होता है अन्यथा नहीं। इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना है क्रतु विचार मेरे मत में भी तीनों के प्रति नित्य सिद्ध होता है।

अब यह जिज्ञास्य है कि ब्रह्म विचार को भी क्रतुविचार के समान ही नित्य सिद्ध करना चाहते हैं। क्रतु विचार की तीनों वर्ण के प्रति नित्यत्व सिद्धि मेरे मत में भी समान है। किन्तु द्वितीय पक्ष से मैं सहमत नहीं हूँ। अर्थात् ब्रह्म विचार परमहंसों अर्थात् सन्यासियों के लिये ही है।

इसी दृष्टि से कहा है कि यह क्रतु विचार त्रैवर्णिक मात्र के प्रति नित्य है क्योंकि नहीं करने से हानि होती है। किन्तु ब्रह्म विचार में ऐसा मानने पर अनिष्ट की आशंका है। इसी दृष्टि से कहा है कि ब्रह्म विचार परमहंसों के लिये नित्य है।

अब यह आशंका स्वाभाविक है कि पूर्वोक्त विश्लेषण से स्वाध्याय अध्ययन अक्षर ग्रहण पर्यन्त मानने पर अर्थग्रहण अविहित रह जायेगा अर्थात् इस विधि

मन्त्रप्रतिपाद्या अवेदार्थज्ञस्य निन्दा वेदार्थस्य प्रशंसा च:—

अर्थज्ञाने पुरुषप्रवृत्तिकरं वचनद्वयं शाखान्तरगतं निरुक्तकारो यास्क (नि० १।१८) एवमुदाजहार ।

'अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च ।
स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ।।
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्दयते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।।'

(निरु० १।१८) इति।

अस्मिन् मन्त्रद्वये 'योऽर्थज्ञ इदित्यनेनैव अर्धेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते, इतरेण अर्धत्रयेण ज्ञानराहित्यं निन्द्यते । यो वेदार्थं जानाति सोऽयमिह

के द्वारा अर्थज्ञान का विधान नहीं है पर अन्य वाक्य के द्वारा किया गया है। ब्राह्मण किसी कारण की अपेक्षा किये विना अर्थात् फल विशेष की आकांक्षा रहित हो धर्म और षडङ्ग वेद का अध्ययन करे। इस विधि वाक्य में निष्कारण शब्द से अध्ययन और ज्ञान का काम्यत्व परिहृत होता है अर्थात् वेदाध्यन काम्य नहीं है अपितु वेदार्थ ज्ञान नित्य है। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि वाक्य से यह सिद्ध हो जाता है कि इससे विहित अध्ययन दृष्ट फल और अक्षर ग्रहण पर्यन्त है।

वेदार्थ ज्ञान की प्रशंसा

अर्थज्ञान में पुरुष की प्रवृत्ति कराने वाले अन्यशाखागत दो वाक्यों को निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार उद्धृत किया है—'लोक में ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है—'जो वेद को पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता वह बोझ ढोने वाला ठूंठा वृक्ष है। जो मनुष्य वेद के अर्थ को जानता है वह सभी कल्याण को प्राप्त करता है। ज्ञान के द्वारा पाप के नष्ट हो जाने पर वह स्वर्ग को जाता है अर्थात् प्राप्त करता है। जो वेदवाक्य बिना अर्थ को जाने हुए ग्रहण किया गया और पाठ मात्र से ही उच्चारित हुआ, वह अग्नि के बिना सूखे ईंधन की तरह कभी नहीं जलता है।'

इन दो मन्त्रों में 'योऽर्थज्ञः' इस श्लोक के अर्धभाग से वेदार्थ के ज्ञान की प्रशंसा की गई है। अन्य तीन भागों के द्वारा ज्ञान राहित्य की निन्दा की गई

लोके सकलं श्रेयः प्राप्नोति । तथा तेन ज्ञानेन पापक्षये सति मृतः स्वर्गं प्राप्नोति । तदेतद् ऐहिकामुष्मिकं च ज्ञानफलं तैत्तिरीया मन्त्रोदाहरणेन तदीयतात्पर्याभिधायिब्राह्मणेन च स्पष्टीचक्रुः—'तदेवाभ्युक्ताः'—ये अर्वाङुत वा पुराणे वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति, सर्वेऽग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति'।

'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति । तस्माद् ब्राह्मणेभ्यो वेदविद्भ्यो दिवे दिवे नमस्कुर्यान्नाश्लीलं कीर्तयेदेता एव देवताः प्रीणाति' (तै० आ० २।१५) इति ।

वेदं विद्वान् अर्थाभिज्ञः पुरुषः, स च द्विविधः । अर्वाचीनकाले समुत्पन्नश्चतुर्दशविद्यास्थानकुशलः कश्चिदुपाध्यायः, पुरातनकाले समुत्पन्नो व्यासादिश्च । तमेतमुभयविधं विद्वांसं विद्यामदधनमदकुलमदोपेताः पण्डितम्मन्या ये पुरुषा अभितो विद्यादिषु दूषयन्ति ते सर्वेऽपि

है। जो वेद के अर्थ को जानता है वह इस लोक में निखिल श्रेय को प्राप्त करता है। और उस ज्ञान से पाप के नष्ट हो जाने पर वह मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग को प्राप्त करता है। तैत्तिरीय संहिता के लोगों ने इस ऐहिक आमुष्मिक फल को मन्त्रों के उदाहरण से और उस मन्त्र के तात्पर्य के अभिधायक ब्राह्मण के द्वारा स्पष्ट किया है—'इसलिये यह ऋचा कही गई है—जो आधुनिक अथवा प्राचीन लोग वेदज्ञ की निन्दा करते हैं वे आदित्य की ही निन्दा करते है।' 'जितने भी देवता हैं वे सब वेदविद अर्थात् वेद को जानने वाले ब्राह्मण में निवास करते हैं। इसलिए वेदज्ञ ब्राह्मणों के प्रति प्रतिदिन नमस्कार करें, उनके लिये अश्लील भाषण न करें। इस तरह सभी देवताओं को सन्तुष्ट करता है।'

वेदार्थ को जानने वाले विद्वान पुरुष दो प्रकार के हैं। अर्वाचीन काल में समुत्पन्न चतुर्दश विद्याओं में कुशल कोई उपाध्याय और पुरातन काल में समुत्पन्न व्यास आदि। विद्यामद, धनमद, कुलमद से युक्त अपने को पण्डित मानने वाले जो व्यक्ति इन दोनों प्रकार के विद्वानों में विद्या आदि के विषय में दोष निकालते है, वे सभी पहले सूर्य में दोष निकालते हैं, दूसरे सूर्य की अपेक्षा अग्नि

आदित्यमेव प्रथमं सर्वतो दूषयन्ति, आदित्यापेक्षया द्वितीयमग्निं दूषयन्ति, तदुभयापेक्षया तृतीयं हंसं दूषयन्ति। हन्ति सदा गच्छतीति हंसो वायुः।

अग्न्यादिरूपत्वञ्च वेदविद आम्नातम्--'अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति' (तै० आ० २।१५) इति। न केवलमेतद् देवतात्रयं किन्तु सर्वा अपि देवता वेदविदि वसन्ति। तस्माद् ब्राह्मणान् वेदविदो दृष्ट्वा स्मृत्वा वा प्रतिदिनं नमस्कुर्यात्। न तु तस्मिन् विद्यमानमपि दोषं कीर्तयेत्। एवं सति तत्तन्मन्त्रार्थभूताः सर्वा अपि देवता वेदार्थविदा स्मर्यमाणतया तदीयहृदये अवस्थिता अयं नमस्कर्ता तोषयति। न चैतद् अध्ययनस्यैव फलमिति शंकनीयम्- 'विद्वांस' (तै० आ० २।१५) इत्याम्नातत्वात्। अन्यथा वेदमधीयानमित्याम्नायेत। तस्मात् सर्वदेवताबुद्ध्या प्राणिभिः पूज्यस्य वेदार्थविदो लोकद्वयेऽपि श्रेयःप्राप्तिरुपपद्यते।

में दोष निकालते हैं, तीसरे उन दोनों की अपेक्षा वायु में दोष निकालते हैं। हन्ति अर्थात् सदा गतिशील यहाँ 'हंस' शब्द वायु के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अग्नि आदि के स्वरूप का उल्लेख वेदार्थ ज्ञाता इस प्रकार करते हैं— 'अग्नि, वायु, आदित्य के सायुज्य को प्राप्त करता है।' (तै० आ० २।१५)। न केवल ये तीन देवता किन्तु सभी देवता वेदज्ञ में निवास करते हैं। इसलिए वेदज्ञ ब्राह्मणों को देखकर अथवा उनका स्मरण करके उन्हें प्रतिदिन नमस्कार करना चाहिये। उनमें विद्यमान दोषों को नहीं कहना चाहिए। इस प्रकार होने पर वेद को नमस्कार करने वाला व्यक्ति उन-उन मन्त्रों के अर्थभूत सभी देवताओं को सन्तुष्ट कर लेता है जिन्हें वह वेदार्थविज्ञ स्मरण करके अपने हृदय में अवस्थित रखता है। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि यह अध्ययन का ही फल है 'विद्वांसम्' (तै० आ० २।१५) शब्द का उल्लेख होने से। यदि अध्ययन का फल अभिप्रेत होता तो 'विद्वांसम्' की जगह 'वेदमधीयानाम्' का प्रयोग होता। इसलिए सभी देवताओं की बुद्धि अर्थात् भावना से प्राणियों के द्वारा पूज्य वेदार्थ विज्ञ की दोनों लोकों में श्रेयः प्राप्ति युक्तियुक्त है।

यस्तु वेदमधीत्यापि अर्थं न विजानाति सोऽयं पुमान् भारमेव हरति धारयति । स्थाणुरिति दृष्टान्तः । छिन्नशाखं शुष्कं वृक्षमूलं स्थाणुशब्देन उच्यते । स च इन्धनार्थमेवोपयुज्यते न तु पुष्पफलार्थम्, तथा केवलपाठकस्य व्रात्यत्वं न भवतीत्येतावदेव, न हि अनुष्ठानं स्वर्गादिफलासिद्धिर्वास्ति । किल इत्यनेन लोकप्रसिद्धिर्द्योत्यते । लोकेऽपि पाठकस्य यावती धनादिपूजा ततोऽप्यधिका विदुषि दृश्यते ।

किञ्च. यद्वेदवाक्यम् आचार्याद् गृहीतम् अर्थज्ञानरहितं पाठरूपेण एव पुनः पुनरुच्चार्यते, तत् कदाचिदपि न ज्वलति स्वार्थं न प्रकाशयति । यथा अग्निरहितप्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्ककाष्ठं न ज्वलति तद्वत् । तथा सति तस्य वाक्यस्य वेदत्वमेव मुख्यं न स्यात् ।

अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्ति अनेन इति वेदशब्दनिर्वचनम् ।

तथा चोक्तम्—

जो वेद को पढ़कर भी उसके अर्थ को नहीं जानता वह पुरुष भार स्वरूप है अर्थात् भार को ही ढोता है । स्थाणु इसका दृष्टान्त दिया गया है । कटी हुई शाखा वाले शुष्क वृक्षमूल को स्थाणु कहते हैं । वह स्थाणु जिस प्रकार केवल ईंधन के ही काम में आता है पुष्प और फल उत्पन्न करने के नहीं, उसी प्रकार केवल वेद पाठ करने वाला व्यक्ति व्रात्य ही नहीं होता (यही उसे लाभ है) । वह यज्ञानुष्ठान नहीं कर सकता और स्वर्गादि फलों की सिद्धि भी उसे नहीं होती है । इस मन्त्र में प्रयुक्त 'किल' शब्द लोक-प्रसिद्धि का द्योतक है । लोक में भी पाठक की जितनी धनादि से पूजा होती है उससे भी अधिक विद्वान् की होती है ।

जो वेदवाक्य आचार्य से विना अर्थ जाने ग्रहण किया गया है, पाठरूप में पुनः पुनः उच्चारण किया जाता है, वह कभी भी नहीं जलता है अर्थात् अपने अर्थ को प्रकाशन नहीं करता है । जिस प्रकार अग्निरहित प्रदेश में फेंका हुआ शुष्क काष्ठ नहीं जलता है । उसी स्थिति में उस वाक्य का वेदत्व ही मुख्यतः सिद्ध नहीं होगा । वेद वाक्य का निर्वचन है—अलौकिक पुरुषार्थ के उपाय को इसके द्वारा जानता है । और कहा भी है—प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जो

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥' इति ।

अतो मुख्यवेदत्वसिद्धये ज्ञातव्य एव तदर्थः ।

किं चात्र यास्केन (नि० १।१९) काचिदन्यापि ऋगुदाहृता--
उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशीत सुवासाः ॥
(ऋ० सं० १०।७१।४). इति ।

तत्र पूर्वार्द्धस्य तात्पर्यं स एव दर्शयति--'अप्येकः पश्यन् न पश्यति; वाचमपि च शृण्वन् न शृणोति, एनामिति अविद्वांसमाह अर्धम्' इति । अस्यायमर्थः--यः पुमान् अर्थं न वेत्ति तं प्रति पूर्वार्धेन मन्त्रो ब्रूते । एकः पुरुषः पाठमात्रपर्यवसितो वेदरूपां वाचं पश्यन्नपि न सम्यक् पश्यति, एकवचनबहुवचनादिविवेकाभावे पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वात् । 'वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति स एनं भूतिं गमयति', आदित्यानेव स्वेन भागधेयेन उप धावन्ति त एनं भूतिं गमयन्ति',

---

उपाय ज्ञात नहीं होता है, उसे लोग वेद के द्वारा जानते हैं, उसी में वेद का वेदत्व है। इसीलिये मुख्यतः वेदत्व की सिद्धि के लिये उसका अर्थ जानना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त यास्क ने इस विषय में किसी अन्य ऋचा को भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है—

कोई वाणी को भी देखता हुआ नहीं देखता है, कोई इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। किसी एक के प्रति वह वाणी अपने शरीर को खोलकर रख देती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्र पहने हुए कामना करती हुई स्त्री अपने पति के समक्ष अपने शरीर को प्रकट कर देती है।'

इसके पूर्वार्द्ध का तात्पर्य यास्क ने दिखलाया है—''एक व्यक्ति वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है और सुनता हुआ भी नहीं सुनता है अर्थात् एक ऐसा व्यक्ति जो वेदार्थ का ज्ञान न रखते हुए सिर्फ उसे रट लेता है, उसके लिये यह वेदवाणी व्यर्थ ही होती है अर्थात् फलदायिनी नहीं होती है। ऋक् का यह अर्द्धभाग अविद्वान् के विषय में बताता है। इसका यह अर्थ है कि जो पुरुष अर्थ को नहीं जानता उसके प्रति मन्त्र पूर्वार्द्ध से कहता है। एक व्यक्ति

(तै० सं० २।१।१।१) इत्यादौ अव्युत्पन्नः कथं पाठं निश्चनुयात्? अन्यः कश्चिद् अर्थज्ञानाय व्याकरणाद्यङ्गानि शृण्वन्नपि मीमांसाराहित्यादेनां वेदरूपां वाचं न सम्यक् शृणोति। तावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणाश्चतुष्कपालान्निर्वपेद्' (तै० सं० ३।३।१२।१) इत्यत्र व्याकरण-मात्रेण प्रतिग्रहीतुरिष्टिः प्रतीयते। मीमांसायां तु न्यायेन दातुरिति निर्णीतम् (जै० सू० ३।४।३०), तस्मादुभयविधमपि अविद्वांसं प्रति एवमाह इति।

तृतीयपादतात्पर्यं दर्शयति,--'अप्येकस्मै तन्वं विसस्रे' इति। स्वात्मानं विवृणुते, 'ज्ञानं प्रकाशनमर्थस्याहानया वाचा' इति। अस्या-मर्थः--अपिशब्दपर्याय उतोशब्दः। स च पूर्वोक्तानभिज्ञवैलक्षण्याय अत्र प्रयुक्तः, निपातानामनेकार्थत्वात्। यः पुमान् व्याकरणाद्यङ्गैः

पाठमात्र तक पर्यवसित वेदरूपी वाणी को देखता हुआ भी पूर्णरूप से नहीं देखता है। एकवचन, बहुवचन आदि के विषय में विवेक का अभाव होने के कारण पाठ की शुद्धि करने में असमर्थ होने से। वायुमेव स्वेन भागधेयेनोप-धावति त एवैनं भूतिं गमयति' 'आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति' (तै० सं० २।१।१।१) इत्यादि अव्युत्पन्न व्यक्ति पाठ का निश्चय कैसे करेगा? दूसरा कोई अर्थज्ञान के लिये व्याकरण आदि अङ्गों को सुनकर भी मीमांसाज्ञान से रहित होने पर इस वेद रूप वाणी को सम्यक् प्रकार से नहीं सुनता। 'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्' यहाँ पर व्याकरणमात्र से यह मालूम होता है कि यह इष्टि अश्वों को ग्रहण करने वाले को करनी है। परन्तु मीमांसा में तो न्याय के द्वारा यह निर्णीत हुआ है कि अश्वों का दान देने वाले को ही करनी है। इस प्रकार दोनों प्रकार के विद्वानों के प्रति इस प्रकार कहा गया है।

यास्क तृतीय पाद के तात्पर्य को दिखाते हैं—'किसी एक के लिये अपने शरीर को खोल कर रख देती है। इस वाणी के द्वारा अर्थ प्रकाशन रूप ज्ञान को कहा है। उत शब्द अपि का पर्याय है। और वह अर्थात् निपात, निपातों

स्वशब्दार्थं मीमांसया तात्पर्यं च शोधयितुं प्रवृत्तस्तस्मै एकस्मै वेदः स्वकीयां तनुं विसस्रे । स्वमित्यादिकं पदव्याख्यानम् । ज्ञानमित्यादिकं तात्पर्यव्याख्यानम् । वेदार्थप्रकाशनक्षमं सम्यग्ज्ञानम् अनया तृतीयपादरूपया वाचा मन्त्र आह इति ।

चतुर्थपादतात्पर्यं दर्शयति--उपमोत्तमया वाचा :--'जायेव पत्ये काममाना सुवासाः ऋतुकालेषु सुवासाः कल्याणवासाः कामयमाना ऋतुकालेषु यथा स एनां पश्यति स शृणोतीत्यर्थज्ञप्रशंसा' इति । अस्यायमर्थः—उत्तमया चतुर्थपादरूपया वाचा तृतीयपादार्थस्य उपमा उच्यते । उशतीत्येतस्य व्याख्यानं कामयमानेति । यद्यपि अह्नि गृहकृत्यवेलायां मलीनवासास्तथापि सम्भोगकालेषु कल्याणवासा भवति । तत्र हेतुः । कामयमाना ऋतुकालेषु इति । तथा स पतिरेनां जायां साकल्येन आदरयुक्तः पश्यति, किञ्च तयोक्तमर्थं हितबुद्धया शृणोति

के अनेकार्थक होने से पूर्वोक्त उत अनभिज्ञ से वैलक्षण्य प्रदर्शित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है । जो पुरुष व्याकरणादि अङ्गों के द्वारा अपने शब्दार्थ और मीमांसा के द्वारा वेद के तात्पर्य को शोधन करने में प्रवृत्त होता है, उस यक के लिये वेद अपने शरीर को खोलकर रख देता है । 'स्वमित्यादि' पदव्याख्यान है । 'ज्ञानमित्यादि' तात्पर्यव्याख्यान है । इस तृतीय पादरूपा वाणी के द्वारा मन्त्र ने वेदार्थ प्रकाशन में सक्षम सम्यक् ज्ञान को कहा है ।

यास्काचार्य चतुर्थपाद के अर्थ को दिखाते हैं--यहाँ वाणी की उपमा दी गई है । जिस प्रकार पत्नी कामभावना से युक्त, अच्छे वस्त्रों से युक्त ऋतुकाल में अपने पति को स्वयं को सौंप देती है । जिस प्रकार वह पति अपने पत्नी को देखता एवं उसकी वाणी को सुनता है उसी प्रकार वेदज्ञ वाणी को देखता और सुनता है अर्थात् वेदज्ञ वाणी का अर्थज्ञान करता है । यह थंज्ञ की प्रशंसा है । इसका यह अर्थ है—चतुर्थ पादरूप वाणी के द्वारा तृतीय पादरूप अर्थ की उपमा दी गई है । 'उशति' का व्याख्यान है 'कामयमाना' । यद्यपि दिन में गृहकार्य के समय मलिन वस्त्रों वाली होती है तथापि संभोग काल में सुन्दर वस्त्रों से युक्त होती है । यही कारण है--ऋतु काल में वह सम्पूर्ण आदरयुक्त होकर

यथायं चतुर्दशविद्यास्थानपरिशीलनोपेतः पुरुषो वेदार्थरहस्यं सम्यक् पश्यति, वेदोक्तं च धर्मब्रह्मरूपमर्थं हितबुद्धया स्वीकरोति। सेयमुक्ता वेदार्थाभिज्ञस्य प्रशंसा। इति।

पुनरपि ऋगन्तरं यास्क (नि० १।२०) उदाजहार--'तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय--

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम्।।'
(ऋ० सं० १०।७१।५) इति।

अयमर्थः। पूर्वोदाहृतायाः 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादिकाया ऋचोऽनन्तरमेव आम्नाता काचिद् ऋक् तस्य पूर्वोक्तमन्त्रार्थस्य भूयसे निर्वचनाय सम्पद्यते। तमर्थम् अतिशयेन प्रतिपादयितुं प्रभवति चेत्? तदुच्यते। अपि चैकं चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः

देखता है और उसके द्वारा कहे हुए शब्दों को हितभावना से सुनता है, उसी प्रकार चौदह विद्यास्थानों का परिशीलन करने वाला अर्थज्ञ पुरुष वेदार्थ रहस्य को पूर्णरूप से भलीभाँति देखता है, और वेदोक्त धर्म और ब्रह्मरूप अर्थ को हितभावना से स्वीकार करता है। वेदार्थ विज्ञ की यह कह कर प्रशंसा की गई है।

पुनः यास्क ने दूसरी ऋचा को उद्‌धृत किया है—'उसके बाद वाली ऋचा उसी अर्थ के अधिक निर्वचन के लिये है।'

एक वेदज्ञ को मित्रता में स्थिरता पूर्वक पान करने वाला कहते हैं। शास्त्रार्थ में उसे कोई नहीं मार सकता अर्थात् उसे कोई पराजित नहीं कर सकता। वेदार्थ अविज्ञ फल तथा फूल से रहित वाणी को सुनता हुआ दूध न देने वाली गाय की तरह वाणी के भ्रममात्र के साथ घूमता है।'

यह अर्थ है—पूर्व उदाहृत 'उतत्वः पश्यन्' इत्यादि ऋचा के अनन्तर पठित यह ऋचा पूर्वोक्त मन्त्र के अर्थ का और अधिक व्याख्यान करती है। उस अर्थ का और आधिक्य प्रतिपादन करती है। यदि यह पूछा जाय कैसे? तो कहते हैं—चौदह विद्यास्थानों में कुशल पुरुष के विषय में अभिज्ञ कहते हैं

सख्ये स्थित्वा स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्ततमाः, अभिज्ञाआहुः कथयन्ति। 'सखिविदं सखायाम्' (तै० आ २।१५) इति मन्त्रे वेदस्य सखित्वमुदाहृतम्। यद् वा स्वर्गलोके वेदानां सख्ये स्थित्वा अतिशयेन पीतामृतमाहुः। वाचामिना ईश्वराः सभासु प्रगल्भा वा वाजिनाः। तेषु मध्येऽपि एनं वेदार्थकुशलं चोदयितुं न हिन्वन्ति, न केऽपि प्राप्नुवन्ति। तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात्। यस्तु अन्यः पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां व चं शुश्रुवान् भवति। पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम्। उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम्। यथा लोके पुष्पं फलस्य उत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञानम् अनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृह० उप ४।४।२२) इति श्रुतेः। यथा च तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः, यत् पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्म हम-

---

कि वह पुरुष वेदरूपा वाणी की मित्रता में स्थिर रहकर वेदोक्त अर्थ रूप अमृत का निरन्तर पान करता है। 'सखिविदं सखायम्' इस मन्त्र में वेद के सखित्व का उदाहरण मिलता है। अथवा स्वर्गलोक में देवों की मित्रता में स्थित होकर अमृत का अत्यधिक पान करता है। 'वाजिनाः' अर्थात् वाणी के ईश्वर अथवा सभाओं में प्रगल्भ। उनके बीच में भी कोई इस वेदार्थ कुशल का मुकाबला नहीं कर सकता उसके साथ विवाद करने में असमर्थ होने से। और जो दूसरा वेद के मन्त्रों का पाठ करता है वह पुष्प और दूसरा वेद के मन्त्रों का पाठ करता है वह पुष्प और फल रहित वाणी को सुने हुए होता है। मीमांसा के पूर्व काण्ड में कहे गये धर्म के ज्ञान को पुष्प तथा उत्तर काण्ड में उक्त ब्रह्म के ज्ञान को फल कहा है। जिस प्रकार लोक में पुष्प फल का उत्पादक होता है उसी प्रकार वेदाध्ययन से उत्पन्न धर्मज्ञान अनुष्ठान द्वारा फलरूप ब्रह्मज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करता है जिस प्रकार श्रुति है— 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' अर्थात् ब्राह्मणलोग इस ब्रह्म को वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और उपवास रूप व्रत आदि साधनों से जानना चाहते हैं। जिस प्रकार फल तृप्ति का हेतु है उसी

स्मीति कृतकृत्यो भवति' (परमहंसोपनिषद् ४) इति श्रुतेः। तादृश-पुष्पफलरहितवेदपाठकः स एष पुमान् अधेन्वा मायया सह चरति। नवप्रसूतिका क्षीरस्य दोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वाद् धिनोतीति व्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्यते। पाठमात्रपरं प्रति वेदरूपा वाग् धर्मज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः। अत एवासौ माया कपटरूपा, ऐन्द्रजालिकनिर्मितगो-सदृशरूपत्वात् तया मायया सह चरन्नयं परमपुरुषार्थं न लभते इत्यर्थः। इत्थं यास्केन ज्ञानस्तुत्यज्ञाननिन्दोदाहरणस्य प्रपञ्चितत्वात्। यच्च स्तूयते तद् विधीयते इति न्यायेन अध्ययनवदर्थस्यापि विधिरभ्युपगन्तव्यः।

किञ्च, नक्षत्रेष्टिकाण्डे प्रतीष्टिफलवाक्यं यागतद्वेदनयोः समानमेव आम्नायते–'यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नादः, एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ चैतदेवं वेद' (तै० ब्रा० ३।१।४।१)

प्रकार ब्रह्मज्ञान कृतकृत्यत्व का हेतु है, जैसा श्रुति कहती है—'जो पूर्णानन्द और केवल ज्ञानरूप ब्रह्म है वही मैं हूँ यह जानकर कृतकृत्य हो जाता है।' उस उस प्रकार पुष्प और फल से रहित वेदपाठक पुरुष अधेनु माया के साथ विचरण करता है। नवप्रसूतिका एवं दूध देने वाली गौ प्रीति का कारण होने से 'धिनोति इति' इस व्युत्पत्ति से धेनु कहलाती है। वेदमन्त्रों का पाठमात्र करने वाले के प्रति वेद रूपा वाणी धर्म और ब्रह्मज्ञान रूपी दुग्ध को नहीं देती हैं इससे अधेनु है। अत एव वह माया एवं कपटरूपा है ऐन्द्रजालिक द्वारा निर्मित गो सदृश होने से। उस माया के साथ विचरण करता हुआ वह पुरुष परमपुरुषार्थ को नहीं प्राप्त करता है, यह अर्थ हुआ। इस प्रकार यास्क ने ज्ञान की स्तुति और अज्ञान की निन्दा का व्याख्यान किया है। 'यच्च स्तूयते तद् विधीयते' इस न्याय के अनुसार अध्ययन के अर्थज्ञान के विधान को भी स्वीकार करना चाहिये।

नक्षत्रेष्टि काण्ड में प्रत्येक इष्टि का फलवाक्य याग एवं उसके ज्ञान के विषय में समान रूप से कहा गया है 'जिस प्रकाग्नि देवताओं में अन्न भक्षण करने वाला है–उसी प्रकार वह मनुष्यों में है। जो इस हवि से यज्ञ करता है

इति । अतो यागवत् फलाय स्ववेदनमपि विधीयते । अनेन न्यायेन सर्वष्वपि ब्राह्मणेषु वेदनविधयो द्रष्टव्याः ।

ननु 'विद्याप्रशंसा' (जै० १।२।१५) इति सूत्रे वेदनफलानां प्रशंसारूपत्वं जैमिनिना सूत्रितमिति चेत् ? अस्तु नाम । विद्यमानेनापि फलेन प्रशंसितुं शक्यत्वात् । दर्शयागस्य च अतिपाते सति प्रायश्चित्तरूपां वैश्वानरेष्टिं विधातुं विद्यमानेनैव स्वर्गफलेन स्तुतिः क्रियते—'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' (तै० सं० २।२।५।४) इति । एतच्चाचार्यैर्ब्रह्मज्ञानफलवाक्यस्य स्वार्थेऽपि तात्पर्यं दर्शयितुमुदाहृतम्—

इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः ।
यथावस्त्वभिधायित्वान्न त्वभूतार्थवादता ॥
इज्येते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा ।
न त्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा ॥

और जो यज्ञ को इस प्रकार जानता है।' इस तरह ब्राह्मण वाक्य याग के अनुष्ठान की भाँति याग के अर्थ ज्ञान का भी फल के लिये विधान करता है। इस न्याय से सभी ब्राह्मणों में भी ज्ञान-विषयक विधियों को देखना चाहिये।

अगर यहाँ आशंका की जाय कि 'विद्याप्रशंसा' सूत्र में ज्ञान के फलों को प्रशंसा रूप में जैमिनि ने सूत्रित किया है तो करने दीजिये। विद्यमान की भी फल के द्वारा प्रशंसा हो सकती है। दर्शयाग और पूर्णमास याग के समयातिक्रमण हो जाने पर वैश्वानर इष्टि का विधान करने के लिये विद्यमान की ही स्वर्गफल के द्वारा स्तुति की जाती है--'सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमासाविज्येते' अर्थात् स्वर्गलोक के लिये दर्शपूर्ण मास किये जाते हैं। ब्रह्मज्ञान के फल बोधक वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य है यह दिखाने के लिये आचार्यों ने यह उदाहरण दिया है--

ब्रह्मज्ञान के फलवाक्य को हम अर्थवाद रूप में मानते हैं क्योंकि यह दूसरे की प्रशंसा के लिये आया है किन्तु यथार्थ वस्तु का अभिधान करने के कारण यह अभूत अर्थवाद नहीं है। जिस तरह सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपूर्णमास-

बृ० उ० ब्रा० १२७–१२८ इति। न च वेदनमात्रेण फलसिद्धौ अनुष्ठानवैयर्थ्यमिति शङ्कनीयम्, फलभूयस्त्वेन परिहृतत्वात्।

उदाहृतश्चात्र जैमिनिसूत्रम्—

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिणामतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्। (जै० सू० १।२।१७) इति।

एतच्चास्माभिः 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' (तै० सं० ५।३।१२।२) इत्युदाहरणेन व्याख्यातम्।

छन्दोगाश्च केवलादनुष्ठानाद् विद्यासहितेऽनुष्ठाने फलातिशयमामनन्ति—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या

विज्येते' यह भूतार्थवाद है उसी तरह प्रकृत वाक्य भी भूतार्थवाद है उसी तरह प्रकृत वाक्य भी भूतार्थवाद है। जिस तरह 'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' यह वाक्य अभूतार्थवाद है उस तरह प्रकृत वाक्य नहीं है।

यहाँ पर अर्थवाद के तीनों प्रकारों का उल्लेख हुआ है अर्थात् गुणवाद; अनुवाद और भूतार्थवाद। गुणवाद अर्थवाद वह है जो अन्य प्रमाणों से विरोध उत्पन्न होने पर होता है। अनुवाद अर्थवाद वह है जो अन्य प्रमाण से अवगत अर्थ का बोधक होता है तथा भूतार्थवाद अर्थवाद ऐसे अर्थ का बोधक होता है; जिसका अन्य प्रमाण से विरोध तथा प्राप्ति नहीं होती है और जो यथार्थ होता है

अर्थज्ञान मात्र से फलसिद्ध हो जाने पर अनुष्ठान व्यर्थ हो जाता है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। अनुष्ठान का फल ज्ञान की अपेक्षा अधिक होता है, इस प्रकार परिहार हो जाने से और यहाँ जैमिनि के सूत्र को उदाहृत किया गया है 'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्' और इसकी व्याख्या 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद' इस उदाहरण के द्वारा की है।

छान्दोग्योपनिषद् वेत्ताओं का कहना है कि केवल अनुष्ठान की अपेक्षा ज्ञानसहित अनुष्ठान में अधिक फल मिलता है जिन्हें वेदार्थ का ज्ञान है और

चाविद्या च। तदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० उप० १।१।१०) इति। यद्यप्यङ्गावद्धोपास्तिरत्र विद्या शब्देन विवक्षिता, तथापि न्यायः सर्वास्वपि विद्यासु समानः।

कुतस्तव एतावती वेदने भक्तिरिति चेत्? कुतो वा तवैतावान् प्रद्वेषः। प्रशंसा त्वस्माभिर्भूयसी दर्शिता, निन्दा तु न क्वापि उपलभामहे। किन्तु कर्मजन्यापूर्वं यथा मरणादूर्ध्वं जीवेन सह गच्छति तथा विद्याजन्यमपि अपूर्वं गच्छति। तथा च वाजसनेयिन आमनन्ति—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (श० ब्रा० १४।७।२।३ बृह० उप० ४।४।२) इति। तस्माद् अध्ययनवद् अर्थज्ञानस्यापि विहितत्वाद् अर्थज्ञानाय वेदो व्याख्यातव्यः।

भेदस्य विषयप्रयोजनाद्यनुबन्धचतुष्टयस्य निरूपणम्—

जिन्हें वेदार्थ का ज्ञान नहीं है वे दोनों यज्ञ करते हैं। विद्या और अविद्या अनेक प्रकार की है। जो अनुष्ठान विद्या से ज्ञानपूर्वक एवं श्रद्धा तथा तत्त्वज्ञान पर्वक किया जाता है वह वीर्यवत्तर अर्थात् बलशाली होता है। यद्यपि यहाँ 'विद्या' शब्द के द्वारा वेद के अङ्गों के ज्ञान की उपासना विवक्षित है तथापि न्याय सभी विद्याओं के पक्ष में बराबर है।

यदि शङ्कापक्षी यह कहें कि तुम्हारी वेदज्ञान में इतनी भक्ति क्यों है? तो उनसे यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि वेदार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में तुम्हारा इतना द्वेष क्यों? क्योंकि हमने वेदार्थ ज्ञान की प्रशंसा के तो अनेक उदाहरण दिये हैं, किन्तु कहीं उसकी निन्दा हमें उपलब्ध नहीं हुई है। जिस प्रकार कर्म से उत्पन्न अपूर्व मरने के बाद जीव के साथ जाता है उसी प्रकार विद्या से जन्य अपूर्व भी जाता है। जैसा कि वाजसनेयी लोग कहते हैं—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' अर्थात् परलोक में गमन करते हुए उस आत्मा का विद्या और कर्म अनुगमन करते हैं और पूर्वजन्म की बुद्धि भी।' इसलिये अध्ययन की तरह अर्थज्ञान का भी विधान होने से अर्थज्ञान के लिये वेद की व्याख्या करनी चाहिये।'

विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिज्ञानमन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावात् विषयादयो निरूप्यन्ते। व्याख्यानस्य व्याख्येयो वेदो विषयः, तदर्थज्ञानं प्रयोजनम्। व्याख्यानव्याख्येयभावः सम्बन्धः, अर्थार्थी चाधिकारी। यद्यपि एतावत प्रसिद्धं तथापि वेदस्य विषयाद्यभावे व्याख्यानस्य परस्य विषयादिकं न स्यात्। अतो वेदस्य तच्चतुष्टयमुच्यते।

वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः, तयोरनन्यलभ्यत्वात्। तथा च पुरुषार्थानुशासने सूत्रितम्—'धर्मब्रह्मणो वेदैकवेद्ये' इति। जैमिनीये च द्वितीयसूत्रे चोदनैव धर्मे प्रमाणम्, चोदनैव धर्मे प्रमाणम् इति नियमद्वयं सम्प्रदायविद्भिरभिहितम्। चोदनैव इत्यमुमर्थम् उपपादयितुं चतुर्थसूत्रे प्रत्यक्षविषयत्वं धर्मस्य निराकृतम्—'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वाद्' (जै० सू० १।१।४) इति।

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी के ज्ञान के विना श्रोता की प्रवृत्ति न होने से व्याख्यातव्य विषय आदि का निरूपण किया जा रहा है। व्याख्येय वेद व्याख्यान का विषय है। उस वेद का अर्थज्ञान प्रयोजन है। प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध है। अर्थज्ञान को जानने का इच्छुक व्यक्ति उसका अधिकारी व्याख्यान का अधिकारी है। यद्यपि यह प्रसिद्ध है तथापि वेद के विषयादि के अभाव में व्याख्यान के भी विषयादि संभव नहीं है। इसलिये वेद के अनुबन्ध चतुष्टय का निरूपण कर रहे हैं।

वेद के पूर्व एवं उत्तर काण्ड का विषय क्रमशः धर्म और ब्रह्म है इन दो अर्थात् धर्म और ब्रह्म के अनन्यलभ्य होने से अर्थात् वेदातिरिक्त स्थान से इनका ज्ञान न प्राप्त होने से। जैसा कि पुरुषार्थानुशासन में सूत्रित किया है—'धर्म और ब्रह्म को केवल वेद के ही द्वारा जाना जाता है।' और जैमिनि के द्वितीय सूत्र में 'वेद ही धर्म में प्रमाण है', चोदना अर्थात् जो क्रिया पुरुष के इष्ट साधन के रूप में वेद में उपदिष्ट है, उसी का नाम धर्म है फिर वेद ही प्रमाण है' इन दो नियमों को संप्रदायविदों ने कहा है। 'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इस अर्थ का उपपादन करने के लिये चतुर्थ सूत्र में धर्म के प्रत्यक्ष का विषय होने का निराकरण किया है 'प्रत्यक्ष धर्म के विषय में प्रमाण नहीं है

अनुष्ठानादूर्ध्वम् उपत्स्यमानस्य धर्मस्य पूर्वमविद्यमानत्वात् न प्रत्यक्षयोग्यता अस्ति। उत्तरकालेऽपि रूपादिराहित्याद् न इन्द्रियैर वगम्यते। अत एव अदृष्टमिति सर्वैरभिधीयते। लिंगराहित्याद् न अनुमानविषयत्वमप्यस्ति। सुखदुःखे धर्माधर्मयोर्लिङ्गमिति चेत् वाढम्। अयमपि लिङ्गलिङ्गिभागो वेदेनैव गम्यते। ततश्चोदनैव धर्मे प्रमाणम्।

वैयासिकस्य तृतीयसूत्रस्य द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः सिद्धवस्तुनोऽपि शास्त्रैकविषयत्वं भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्। शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकरणं ब्रह्म अधिगम्यते इत्यभिप्रायः (ब्र० सू० शा० भा० १।१। ३) इति। श्रुतिश्च भवति—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति। तत्रोपपत्तिः पूर्वाचार्यैरेवमुदीरिता—'रूपलिङ्गा द्विराहित्याद् नास्य मासान्तरयोग्यता' (वै० न्या० १।१।३।१८) इति। तस्माद् अनन्यलभ्यत्वाद् अस्ति धर्मब्रह्मणोर्वेदविषयत्वम्।

विद्यमान पदार्थ का उपलम्भन करने से' (जै० सू० १।६।४)। अनुष्ठान के बाद पूर्व में उत्पन्न होने वाले धर्म के अविद्यमान होने से उसमें प्रत्यक्ष योग्यता नहीं है। उत्तरकाल में भी रूप आदि के राहित्य के कारण अर्थात् रूपादि से रहित होने के कारण वह इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता है। अत एव सभी लोग धर्म को अदृष्ट कहते हैं। लिंग से रहित होने के कारण अनुमान का भी विषय नहीं है। सुख-दुःख, धर्म-अधर्म के साधन हैं अर्थात् जहाँ सुख होता है वहाँ धर्म होता है जहाँ दुख होता है वहाँ अधर्म होता है, यह ठीक है किन्तु यह लिङ्ग-लिङ्गि-भाव वेद के द्वारा ही ज्ञात होता है। इसलिए वेद ही धर्म में प्रमाण है।

व्यास के उत्तरमीमांसा के तृतीय सूत्र के द्वितीय वर्णक में भाष्यकार द्वारा ब्रह्म के सिद्ध वस्तु होने पर भी उसे केवल शास्त्र का विषय होना बताया गया है—'जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म शास्त्र के प्रमाण से ही ज्ञात होता है, यह तात्पर्य है', (ब्र० सू० शां० भा० १।१।३)। और श्रुति में भी कहा है—'वेद को न जानने वाला इस बृहत् तत्त्व को नहीं जान सकता'

तदुभयज्ञानं वेदस्य साक्षात् प्रयोजनम् । न च तस्य ज्ञानस्य, सप्त-द्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छति इत्यादिज्ञानवद् अपुरुषार्थपर्यवसायित्वं शङ्कनीयम्, धर्मप्रयुक्तस्य पुरुषार्थस्य स्तूयमानत्वात् । 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति' (तै० आ० १०।६३) इति । उद्दण्डस्य राज्ञो नियामकत्वाद् विवदमानयोः पुरुषयोर्मध्ये दुर्बलस्यापि राजसाहाय्यवज्जयहेतुत्वाच्च धर्मः पुरुषार्थः । तथा च वाजसनेयिनः सृष्टिप्रकरणे समामनन्ति--'तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य यद्धर्मस्तस्मात धर्मात् पर नास्ति अथो अबलीयान् बलीयांशमाशंसते धर्मेण, यथा राज्ञैवम्' (बृह० उप० १।४।१४) इति । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० आ० ८।२). 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० उ० ३।२।९) 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० उप० ७।१।३) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः पुरुषार्थः प्रसिद्धः ।

आचार्यों ने उसकी उपपत्ति इस प्रकार की है--'रूपलिङ्ग आदि से रहित होने के कारण ब्रह्म तत्त्व में अन्य प्रमाणों का विषय होने की योग्यता नहीं है ।' इसलिये अनन्य लभ्य होने के कारण धर्म और ब्रह्म केवल वेद के विषय हैं ।

। उन दोनों का अर्थात् धर्म और ब्रह्म का ज्ञान वेद का साक्षात् प्रयोजन है । यह शंका नहीं करनी चाहिये कि धर्म और ब्रह्म का ज्ञान 'सप्तद्वीपा वसुमती' अर्थात् सात द्वीपों वाली पृथ्वी, 'राजासौ गच्छति' यह राजा जाता है इत्यादि ज्ञान की तरह अपुरुषार्थ में पर्यवसित हो जाता है, धर्म से होने वाले पुरुषार्थ की स्तुति होने से 'धर्म पूरे जगत की प्रतिष्ठा है, लोक में प्रजा धर्मात्मा के पास जाती है धर्म के द्वारा लोग स्व पाप को नष्ट करते हैं, धर्म में सब कुछ प्रतिष्ठित है इसलिये धर्म को श्रेष्ठ बतलाया गया है' (तै० आ० १०।६३)। दण्ड देने में तत्पर राजा का नियामक होने से, विवादयुक्त दो पुरुषों के मध्य में राजसहायता की तरह दुर्बल के भी जय का हेतु होने से धर्म पुरुषार्थ है । जैसा कि वाजसनेयी संहिता के अध्येता सृष्टि प्रकरण में कहते हैं—श्रेयोरूप धर्म की सृष्टि की, यह धर्म क्षत्रिय का भी नियन्ता है,

तदुभयज्ञानार्थी वेदेऽधिकारी। स च त्रैवर्णिकः पुरुषः। स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायाम् उपनयनाभावेन अध्ययनराहित्याद् वेदे अधिकारः प्रतिबद्धः। धर्मब्रह्मज्ञानं तु पुराणादिमुखेन उत्पद्यते। तस्मात् त्रैवर्णिकपुरुषाणां वेदमुखेन अर्थज्ञाने अधिकारः।

सम्बन्धस्तु वेदस्य धर्मब्रह्मभ्यां सह प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावः, तदीयज्ञानेन सह जन्यजनकभावः, त्रैवर्णिकपुरुषैः सह उपकार्योपकारक-भावः। तदेवं विषयाद्यनुबन्धचतुष्टयमवगत्य समाहितधियः श्रोतारो वेदव्याख्याने प्रवर्त्तन्ताम्।

अपरविद्यारूपाणां वेदस्य षडङ्गानां समुद्देशः

इसलिये धर्म से बढ़कर कुछ भी नहीं है। अतः धर्म की सहायता से दुर्बल भी बलवान् को पराजित कर देता है जैसे राजा के अवलम्बन से कर देता है (बृ० उ० १४।११)। 'ब्रह्मवित् परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है' (तै० आ० ८।२), 'जो ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है' (मुं० उ० ३।२.९), 'आत्मवित् शोक को पार कर जाता है (छा० उ० ७।१।३) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान से युक्त पुरुषार्थ प्रसिद्ध है। अतः इन दोनों ज्ञानों अर्थात् धर्मज्ञान एवं ब्रह्म ज्ञान को जानने की इच्छा करने वाला पुरुष वेद में अधिकारी होता है। और वह त्रैवर्णिक पुरुष है। स्त्री और शूद्र को ज्ञान की अपेक्षा होने पर भी उपनयन संस्कार न होने के कारण वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते (क्योंकि) उनका वेद में अधिकार निषिद्ध किया गया है। धर्म और ब्रह्म का ज्ञान पुराणादि के द्वारा उत्पन्न होता है। इसलिये तीन वर्णों के पुरुषों को ही वेद के द्वारा अर्थज्ञान में अधिकार है।

वेद का धर्म और ब्रह्म के साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। उस ज्ञान के साथ वेद का जन्य जनक भाव सम्बन्ध है। तीन वर्ण के पुरुषों के साथ उपकार्यो-पकारक भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार विषयादि अनुबन्ध चतुष्टय को जानकर बुद्धि को समाहित करके श्रोता लोग वेद के अध्ययन में प्रवृत्त होवें।

अतिगम्भीरस्य वेदस्य अर्थमवबोधयितुं शिक्षादीनि प्रवृत्तानि । अत
तेषाम् अपरविद्यारूपत्वं मुण्डकोपनिषदि अथर्वणिका आमनन्ति—
विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म तद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च ।
तापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं
रुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा 'यया तदक्षरमधिगम्यते'(मुण्ड०
०१।१।४-५) इति । साधनभूतधर्मज्ञानहेतुत्वात् षडङ्गसहितानां
र्मकाण्डानाम् अपरविद्यात्वम् । परमपुरुषार्थभूतब्रह्मज्ञानहेतुत्वाद्
पनिषदां परविद्यात्वम् ।

वेदाङ्गभूतायाः शिक्षाया लक्षणप्रयोजनपुरःसरं सम्यङ् निरूपणम् :-
वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र उपदिश्यते सा शिक्षा । तथा च
त्तिरीया उपनिषदारम्भे समामनन्ति—'शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः,
रः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः' (तै०उ०१।१)
ति । वर्णोऽकारादिः । स च अङ्गभूतशिक्षाग्रन्थे स्पष्टमुदीरितः --

'त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा ॥
(पा० शि० ३) इत्यादिना ।

अतिगम्भीर वेद के अर्थ को जानने के लिये शिक्षादि छ वेद के अङ्ग प्रवृत्त
। अत एव उनके अपर विद्या होने के रूप को मुण्डकोपनिषद् में आथर्वणिकों
कहा है—ब्रह्मविद लोग दो विद्याओं को ही बताते हैं वह परा और अपरा
। अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद शिक्षा, कल्प,
करण, निरुक्त और ज्योतिष आते हैं । और परा विद्या वह है जिसके द्वारा
अक्षर अर्थात् परमेश्वर को जाना जाता है (मु० उ० १।१।४-५) । साधन-
धर्मज्ञान के हेतु होने से छ अङ्गों सहित कर्मकाण्डों को अपरा विद्या कहा
ता है । परमपुरुषार्थभूत ब्रह्मज्ञान के हेतु होने से उपनिषदों को पराविद्या
हते हैं ।

शिक्षा—वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण के प्रकार का उपदेश जहां दिया जाता
उसे शिक्षा कहते हैं । जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् के आरम्भ में कहते हैं—
क्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, संतान इत्युक्तः शिक्षा-
यः' अर्थात् शिक्षा का व्याख्यान करेंगे । वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम,
तान —ये छ शिक्षा के विषय हैं । अकारादि वर्ण हैं । और उस वेदाङ्ग शिक्षा

स्वर उदात्तादिः। तत्रोक्तः--

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च, स्वरास्त्रयः।' (पा० शि० ११)। इति। मात्रा ह्रस्वादिः। सापि तत्र उक्ता—

'ह्रस्वो दीर्घ. प्लुत इति कालतो नियमा अचि।' (पा० शि० ११) इति।

बलं स्थानप्रयत्नौ। तत्र 'अष्टौ स्थानानि वर्णानाम्' (पा० शि० ११) इत्यादिना स्थानमुक्तम्। 'अचोऽस्पृष्टाः, यणस्त्वीषद्' (पा० शि० ३७) इत्यादिना प्रयत्न उक्तः—

सामशब्देन साम्यमुक्तम् अतिद्रुतातिविलम्बितमीत्यादिदोष-राहित्येन माधुर्यादिगुणयुक्तत्वेन उच्चारणं साम्यम्। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' (पा० शि० ३२) इत्यादिना, 'उपांशु दुष्टं त्वरितम्' (पा० शि० ३५) इत्यादिना च दोषा उक्ताः। 'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' (पा० शि० ३३) इत्यादिना गुणा उक्ताः।

ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है--'शम्भु के मत में तिरसठ या चौंसठ वर्ण माने गये हैं। प्राकृत और संस्कृत में भी स्वयं स्वयम्भु ने कहा है।

उदात्तादि स्वर हैं। उन्हें भी वहाँ कहा गया गया है--'उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर हैं।

ह्रस्वादि मात्रा हैं। इसका भी वहीं पर कथन है--ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये मात्रायें काल के नियमानुसार स्वर में होती हैं।

स्थान और प्रयत्न को बल कहते हैं। 'वर्णों के आठ स्थान हैं' इत्यादि के द्वारा स्थान कहा गया है। अच्=स्वर का अस्पृष्ट यण्=यवरल का इष-त्स्पृष्ट, इत्यादि से प्रयत्न कहा गया है।

साम शब्द के द्वारा साम्य को कहा गया है। अतिद्रुत, अतिबिलम्बित, गीति आदि दोषों से रहित तथा माधुर्यादि गुणों से युक्त उच्चारण को साम्य कहते हैं। 'गीती शीघ्री शिरःकम्पी' इत्यादि के द्वारा और 'उपांशु दुष्टं त्वरि-तम्' इत्यादि के द्वारा दोषों का कथन किया गया है।

'माधुर्यमक्षरव्यक्तिः' इत्यादि के द्वारा गुणों को कहा गया है।

सन्तानः संहिता—'वायवायाहि' (ऋ० सं० ३।२।१) इत्यत्रावादेशः 'इन्द्राग्नी आगतम्' (ऋ०सं०३।१२।१) इत्यत्र प्रकृतिभावः। एतच्च व्याकरणेऽभिहितत्वात् शिक्षायाम् उपेक्षितम्। शिक्ष्यमाणवर्णातिवैकल्ये बाधस्तत्रोदाहृतः—

'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥'
(पा० शि० ५२) इति।

इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व (तै० सं० २।४।१२।१) इत्यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रस्य शत्रुर्घातकः इत्यस्मिन् विवक्षितेऽर्थे तत्पुरुषसमासे 'समासस्य' (पा० अ० ६।१।२२२) इति सूत्रेण तत्पुरुषत्वाद् अन्तोदात्तेन भवितव्यम्। आद्युदात्तस्तु प्रयुक्तः! तथा सति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन बहुव्रीहित्वाद्

सन्तान का अर्थ संहिता है अर्थात् एक पद का दूसरे पद से अतिशय सन्निकर्ष है। 'वायवायाहि' वायो आयाहि यहाँ दोनों पदों के बीच अवादेश है। अर्थात् इन दो पदों के एक साथ उच्चरित होने से संधि होकर 'वायवायाहि' रूप हुआ। 'इन्द्राग्नि आगतम्' यहाँ प्रकृतिभाव हुआ है। व्याकरण में इसका उल्लेख होने के कारण शिक्षा में इस विषय की उपेक्षा की गई है। शिक्षा नियमों के अनुसार वर्णों का शुद्ध उच्चारण न होने पर जो दोष होता है उसे उदाहरण देकर बतलाया है—'जो मन्त्र स्वर या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण उस अर्थात् अभीष्ट अर्थ को नहीं कहता है। वह वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है, जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रु' शब्द ने यजमान को ही नष्ट कर दिया' (पा० शि० ५२)। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र में विवक्षित अर्थ था कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् घातक बढ़े। यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास 'इन्द्रस्य शत्रुः' यह अभीष्ट था और तत्पुरुष समास 'इन्द्रस्य शत्रुः' यह अभीष्ट था और तत्पुरुष होने के कारण 'समासस्य' सूत्र से इसे अन्तोदात्त होना चाहिये था। किन्तु आद्युदात्त का उच्चारण किया गया। ऐसा होने पर पूर्वपद प्रकृति स्वर से यह बहुव्रीहि बन गया और 'इन्द्र

इन्द्रः घातको यस्य इत्यर्थः सम्पन्नः। तस्मात् स्वरवर्णाद्यपराधपरिहाराय शिक्षाग्रन्थोऽपेक्षितः।

कल्पस्योपयोगव्युत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं निरूपणम्:—

कल्पस्तु आश्वलायनापस्तम्बबोधायनादिसूत्रम्, कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति व्युत्पत्तेः।

ननु आश्वलायनः किं मन्त्रकाण्डमनुसृत्य प्रवृत्तः किं वा ब्राह्मणमनुसृत्य। नाद्यः, 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' (आ० श्रौ० सू० १।१) इत्येवं तेनोपक्रान्तत्वात्। 'न हि अग्निमीळे' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादयो मन्त्रा दर्शपूर्णमासयोः क्वचिद् विनियुक्ताः। न द्वितीयः, 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्' (ऐत० ब्रा० १।१) इत्येव दीक्षणीयेष्टेर्ब्राह्मणे प्रक्रान्तत्वात्।

अत्रोच्यते--मन्त्रकाण्डो ब्रह्मयज्ञादिजपक्रमेण प्रवृत्तो न तु यागानुष्ठानक्रमेण। ब्रह्मयज्ञश्चैवं विहितः—यत् स्वाध्यायमधीयीतैकाम-

---

है घातक जिसका' यह अर्थ हो गया। इसलिये स्वर, वर्ण आदि अपराधों के परिहार के लिये शिक्षाग्रन्थ अपेक्षित है।

कल्प

आश्वलायन आपस्तम्ब बोधायन आदि के सूत्रों को कल्प कहा जाता है। कल्प की व्युत्पत्ति है --जहाँ याग के प्रयोग की कल्पना अथवा समर्थन किया जाय।

यहाँ शङ्का होती है कि आश्वलायन क्या मन्त्रकाण्ड का अनुसरण करके प्रवृत्त है या ब्राह्मण का अनुसरण करके। पहला सम्भव नहीं क्योंकि 'दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' के अनुसार आश्वलायन ने दर्श और पूर्णमास की व्याख्या से अपना श्रौतसूत्र प्रारम्भ किया है। और 'अग्निमीळे' (ऋ० सं० १।१।१) इत्यादि मन्त्र दर्श और पूर्णमास में कहीं भी विनियुक्त नहीं हैं। दूसरा भी नहीं हो सकता क्योंकि 'आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयामेकादशकपालम्' के अनुसार ब्राह्मण में दीक्षणीया इष्टि से प्रारम्भ हुआ है।

अब कहते हैं कि मन्त्र-काण्ड ब्रह्मयज्ञादि के जप के क्रम से प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठान के क्रम से नहीं। ब्रह्मयज्ञ का विधान इस प्रकार है—'जो एक

प्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः' (तै० आ० २।१०) इति। सोऽयं ब्रह्मयज्ञजपोऽग्निमील इत्याम्नायक्रमेणैव अनुष्ठेयः। तथा सर्वा ऋचः, सर्वाणि यजूंषि, सर्वाणि सामानि 'वाचःस्तोमे पारिप्लवं शंसति' इति विधीयते। यथा आश्विने सस्यमाने सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयाद्' (आप० श्रौतसूत्र १४।१।२) इति विधीयते, रिच्यत इव वा एष प्रेवरिच्यते, यो याजयति प्रति वा गृह्णाति, याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २।१६) इति प्रायश्चितरूपं वेदपारायणं विहितम् — इत्यादिषु कृत्स्नमन्त्रकाण्डविनियोगेषु सम्प्रदायपारम्पर्यागत एव क्रम आदरणीयः।

विशेषविनियोगांस्तु मन्त्रविशेषाणां श्रुतिलिङ्गवाक्यादिप्रमाणानि उपजीव्य आश्वालायनो दर्शयति। अतो मन्त्रकाण्डक्रमाभावेऽपि न कश्चिद् विरोधः।

भी ऋचा, यजुः या साम का स्वाध्याय के रूप में अध्ययन कर लेता है वह ब्रह्मयज्ञ है।' इस ब्रह्मयज्ञ जप का 'अग्निमीले' इस आम्नाय क्रम से अनुष्ठान करना चाहिये। इसी प्रकार सभी ऋचाओं, सभी यजुषों और सभी सामों का 'वाचः स्तोमे पारिप्लवं शंसति' इस वाक्य से विधान हुआ है। उसी प्रकार आश्विन शास्त्र में 'सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्' (आप० श्रौतसूत्र १४।१।२) इस वाक्य से ऋग्वेद की सभी ऋचाओं का विधान किया गया है। उसी प्रकार 'रिच्यत इव वा एष प्रेवरिच्यते, यो याजयति प्रति वागृह्णति, याजयित्वा प्रतिगृह्य वानश्नन् त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' (तै० आ० २।१६) यहाँ प्रायश्चित्त के रूप में वेद पारायण का विधान विहित है। इस प्रकार के पूरे मन्त्रों का विनियोगों में सम्प्रदाय परम्परा से आये हुए ही क्रम का आदर करना चाहिये।

मन्त्रविशेषों के विशेष विनियोगों को तो आश्वलायन ने श्रुति, लिङ्ग, वाक्य प्रकरण, स्थान, समाख्या इन छ प्रमाणों को उपजीव्य मानकर दिखलाया है। इसलिये मन्त्रकाण्ड के क्रम के न होने पर भी कोई विरोध नहीं है।

'इषे त्वा' इत्यादिमन्त्रास्तु क्रत्वनुष्ठानक्रमेणैव आम्नाता इत्याप-स्तम्बादयस्तेनैव क्रमेण सूत्रनिर्माणे प्रवृत्ताः। आम्नातत्वादेव जपादिषु अपि स एव क्रमः। यद्यपि ब्राह्मणे दीक्षणीयेष्टिरुपक्रान्ता तथापि तस्या इष्टेर्दर्शपूर्णमासविकृतित्वेन तदपेक्षत्वाद् आश्वालायनस्य आदौ तद् व्याख्यानं युक्तम्। अतः कल्पसूत्रं मन्त्रविनियोगेन क्रत्वनुष्ठानमु-पदिश्य उपकरोति।

तर्हि 'प्र वो वाजा' (ऋ० सं० ३।२७।१) इत्यादिना सामिधे-नीनाम् ऋचामेव विनियोगमाश्वलायनो ब्रवीतु; 'नमः प्रवक्त्रे' इत्या-दस्त्वनाम्नाताः कुतो विनियुज्यन्ते (आश्व० सूत्र १।२) इति चेत्? नायं दोषः, शाखान्तरसमाम्नातानां ब्राह्मणान्तरसिद्धस्य विनियोगस्य गुणोपसंहारन्यायेन अत्र वक्तव्यत्वात्; सर्वशाखा-प्रत्ययमेकं कर्म इति न्यायविदः। तस्मात् शिक्षेव कल्पोऽपि अपेक्षितः।

'इषे त्वा' इत्यादि मन्त्र तो यज्ञानुष्ठान के क्रम से ही आम्नात हैं इसलिये आपस्तम्ब आदि उसी क्रम से सूत्र के निर्माण में प्रवृत्त हुए। संहिता में आम्नात होने के कारण जप आदि में भी वही क्रम रहेगा। यद्यपि ब्राह्मण में दीक्षणीय इष्टि से प्रारम्भ हुआ है तथापि वह इष्टि दर्श और पूर्णमास की विकृति होने से उसकी अपेक्षा आश्वलायन के आदि में जो दर्श पूर्णमास का व्याख्यान है वह युक्त ही है, क्योंकि प्रकृति के आधार पर विकृति का अनुष्ठान होता है। अतः कल्प सूत्र मन्त्र-विनियोग के द्वारा यज्ञानुष्ठान का उपदेश कर उपकार करता है।

तो 'प्र वो वाजा' (ऋ० सं० ३।२७।१) इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं के विनियोग को आश्वलायन को बतलाना चाहिये। 'नमः प्रवक्त्रे' (आश्व० श्रौ० सू० १।२) इत्यादि ऋचायें तो ऋग्वेद में आम्नात नहीं हैं' तो उनका विनियोग आश्वलायन क्यों बतलाते हैं, यह कोइ दोष नहीं है। दूसरी शाखा में आम्नात तथा अन्य ब्राह्मण से सिद्ध विनियोग को गुणोपसंहार न्याय से कह देना अनुचित नहीं है। सभी शाखाओं में भिन्न भिन्न कहे जाने से कोई कर्म भिन्न-भिन्न नहीं हो जाता, एक ही रहता है। इसलिये शिक्षा की तरह कल्प भी अपेक्षित है।

व्याकरणस्य लक्षणनिर्देशमुखेन प्रयोजनविशेषाणां वररुचिपतञ्जलिप्रदर्शितदिशा सम्यग्विविच्य विस्तरशः प्रतिपादनम्—

व्याकरणमपि प्रकृतिप्रत्ययाद्युपदेशेन पदस्वरूपतदर्थनिश्चयाय उपयुज्यते। तथा च ऐन्द्रवायवग्रहब्राह्मणे समाम्नायते—'वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद्, वरं वृणै, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति तस्माद् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तै० सं० ६।४।७।३) इति। अग्निमीळे पुरोहितमित्यादिवाक् पूर्वस्मिन् काले पराची समुद्रादिध्वनिवदेकात्मिका सत्यव्याकृता प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यमित्यादिविभागकारिग्रन्थरहिता आसीत्। तदानीं देवैः प्रार्थित इन्द्र एकस्मिन् एव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरूपेण वरेण तुष्टस्तामखण्डां वाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागं सर्वत्र अकरोत्। तस्मादियं बाग् इदानीमपि पाणिन्यादि-

---

व्याकरण

व्याकरण भी प्रकृति, प्रत्यय आदि के उपदेश के द्वारा पद के स्वरूप और और अर्थ के निश्चय के मिये प्रयुक्त होता है। जैसा कि ऐन्द्र-वायव ग्रह ब्राह्मण में कहा गया है—'प्राचीन काल में वाक् अव्याकृत और अस्पष्ट रही। तब देवताओं ने इन्द्र से कहा वाक् को हमारे लिये व्याकृत करो। इन्द्र ने कहा मुझे एक वर दो, मुझे और वायु के साथ साथ सोम दिया जाय। अतः इन्द्र और वायु को एक साथ सोम ग्रहण कराया जाता है। तब इन्द्र ने वाक् को मध्य से विच्छेद करके उसे व्याकृत कर दिया। तब से इस व्याकृत वाक् का उच्चारण होता है' (तै० सं० ६।४।७।३)। 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि वाक् प्राचीन काल में समुद्र आदि की ध्वनि की भाँति एकरूप होने के कारण अव्याकृत भी है। उस समय प्रकृति, प्रत्यय, पद और वाक्य इत्यादि विभाग युक्त ग्रन्थों का अभाव था। उस समय देवताओं के द्वारा प्रार्थित इन्द्र ने एक ही पात्र में वायु और अपने लिये सोमरस के ग्रहण करने के वर से प्रसन्न होकर उस अखण्ड वाणी को बीच में विच्छेद करके प्रकृति, प्रत्यय आदि के रूप में

महर्षिभिर्व्याकृता सर्वैः पठ्यते इत्यर्थः।

तस्य एतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वररुचिना वार्तिके दर्शितः—'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति। एतानि रक्षादि-प्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि (महाभाष्यस्पशाह्निके)। रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यति वेदार्थं चाध्यवस्यति। ऊहः खल्वपि, न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः, ते च अवश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणम-यितव्याः। तान् नावैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम्' तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

आगमः खल्वपि, 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति। प्रधानञ्च षट्सु अंगेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति। लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। बृह-

---

सर्वत्र विभक्त कर दिया। इसलिये यह वाणी अब भी पाणिनि आदि महर्षियों के द्वारा प्रकृति-प्रत्ययों मे विभक्त होकर लोगों द्वारा पढ़ी जाती है।

उस व्याकरण के प्रयोजन विशेष को वररुचि ने अपने वार्तिक ग्रन्थ में दिखलाया है—'रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह ये प्रयोजन हैं। ये रक्षादि प्रयोजन तथा अन्य प्रयोजन महाभाष्य में पतञ्जलि के द्वारा स्पष्ट किये गये हैं। वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। लोप, आगम, वर्ण, विकार को जानने वाला व्यक्ति ही वेदों का ठीक तरह से परि-पालन करेगा और वेदार्थ को समझ सकेगा।

ऊह भी प्रयोजन है। वेद में मन्त्र सभी लिङ्गों और सभी विभक्तियों सहित नहीं पढ़े गये हैं उन्हें यज्ञ करने वाले को अवश्य ही यथाप्रसङ्ग उचित रीति से बदलना चाहिये।

आगम भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजन है। 'ब्राह्मण को बिना कारण धर्मस्वरूप छ अङ्गों वाले वेद को पढ़ना चाहिये।' छ अङ्गों में व्याकरण ही प्रधान है। और प्रधान में किया हुआ यत्न विशेष फलवान् होता है।

एवं लाघव के लिये भी व्याकरण पढ़ना चाहिये। बृहस्पति ने इन्द्र को एक

स्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्च अध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रम् अध्ययनकालः, अन्तं च न जगाम। अद्य तु पुनर्यदि परमायुर्भवति स वर्षशतं जीवति। तत् कुतः प्रतिपदपाठेन सकलपदावगमः, कुतस्तरां प्रयोगेण ? असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्, याज्ञिकाः पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत इति। तत्र न ज्ञायते किं स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती, किं वा स्थूला चासौ पृषतीति। तान् न वैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि समासान्तोदात्तत्वं तदा कर्मधारयः, अथ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिरिति।

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि तेऽसुराः,दुष्टः शब्दः, यदधीतम् यस्तु प्रयङ्क्ते, अविद्वांसः, विभक्ति कुर्वन्ति, यो वा इमाम्,

---

हजार दिव्य वर्षों तक प्रतिपदोक्त शब्दों का शब्द-पारायण सुनाया पर अन्त तक न पहुंचे। बृहस्पति जैसा वक्ता और इन्द्र जैसा अध्येता अर्थात् पढ़ने वाला। एक हजार दिव्य वर्ष पढ़ने का समय और फिर भी अन्त तक नहीं पहुंचे। आजकल तो कहना ही क्या, जो बहुत आयु वाला होता है वह सौ वर्ष जीता है। इसलिये प्रतिपद पाठ के द्वारा कैसे सभी पदों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है; उन पदों के प्रयोग करने का तो प्रश्न ही कहां ? सन्देह की निवृत्ति के लिये भी व्याकरण पढ़ना चाहिये। याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—स्थूलपृषती गाय को अग्नि तथा वरुण देवताओं के उद्देश्य से आलम्बन करें। यहाँ पर स्थूलपृषति' इस विशेषण का पता नहीं चलता कि इसका 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषति' यह अर्थ है अथवा 'स्थूला चासौ पृषति' यह अर्थ है। उसे अवैयाकरण स्वर से निश्चय नहीं कर सकेगा किन्तु वैयाकरण जान लेगा कि यदि समास का अन्तिम पद उदात्त है तो कर्मधारय होता है, और यदि पूर्वपद में उदात्त है तो बहुव्रीहि होता हैं।

शब्दानुशासन के ये निम्नलिखित भी प्रयोजन हैं

तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्ति।

चत्वारि, उत त्वः, सक्तुमिव, सारस्वतीम्, दशम्यां पुत्रस्य, सुदेवोऽसि वरुण इति।

तेऽसुराः--

तेऽसुराः 'हेलयो हेलय' इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै। म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्।

दुष्टः शब्दः--

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥'
(पा० शि० ५२)

दुष्टान् शब्दान् मा प्रयुक्ष्महीति अध्येयं व्याकरणम्।

यदधीतम्--

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण इति।

तेऽसुराः—

वे असुर हेलयः हेलयः करते हुए पराजित हो गये। इसलिये ब्राह्मण को अपशब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जो अपशब्द है वह निश्चय ही म्लेच्छ है हम म्लेच्छ न हों इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

दुष्टः शब्दः—

स्वर या वर्ण की दृष्टि से दोषयुक्त शब्द प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का बोधन नहीं होता है वह, वाग्वज्र बनकर यजमान को भी मार देता है; जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रुः' शब्द यजमान का ही विनाशक हुआ' (पा० शि० ५२)। हम दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये।

यदधीतम् —

'जिस वेद वाक्य को आचार्य से पढ़ लिया पर अर्थ नहीं समझा जो पाठ रूप से पुनः-पुनः उच्चरित किया जाता है, वह अग्निरहित प्रदेश में फेंके हुए

अविज्ञातमनर्थकं माधिगीष्महि इति अध्येयं व्याकरणम् ।
यस्तु प्रयुङ्क्ते —
यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषो शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

कः ? वाग्योगविदेव । यो हि शब्दान् जानाति अपशब्दान् अप्यसौ जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्मं एवमपशब्दज्ञानेऽपि अधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो हि अपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः, एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः, यथा—गौरित्येतस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयः । अथ योऽवाग्योगविद् अज्ञानं तस्य शरणम् । विषम उपन्यासः । न अत्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो हि अजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिवेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । एवं तर्हि कः ? अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद्, ज्ञानं तस्य शरणम् ।

शुष्क काष्ठ की तरह, कभी भी अपने अर्थ को प्रकाशित नहीं करता है' अर्थात् जिस प्रकार अग्नि रहित प्रदेश में फेंका हुआ शुष्क काष्ठ नहीं जलता है उसी प्रकार विना अर्थ को जाने हुए पढ़ा गया वेद वाक्य भी अपने अर्थ को प्रकाशित नहीं करता है ।

हम अविज्ञात अर्थात् विना अर्थ समझे अध्ययन न करें इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

'जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के समय यथावत् अर्थात् ठीक-ठीक शब्दों का प्रयोग करता है वह वाग्योगवित् परलोक में अनन्त विजय को प्राप्त करता है । इसके विपरीत वाणी के योग को न जानने वाला व्यक्ति अपशब्दों से दूषित हो जाता है ।'

कौन ? (शंकापक्षी कहता है) वाणी के योग को जानने वाला ही । क्योंकि जो शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है । जिस प्रकार शब्द ज्ञान में धर्म है उसी प्रकार अपशब्द ज्ञान में अधर्म है अथवा अधर्म अधिक प्राप्त होता है । क्योंकि अपशब्द अधिक हैं, शब्द कम हैं । एक-एक शब्द के

अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ।।

स्त्रीवन्मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

विभक्तिं कुर्वन्ति—

यज्ञिकाः पठन्ति, , प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः' इति । न च अन्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

यो वा इमाम्—

यो वा इमा पदशः स्वरशोऽक्षरशो वर्णशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति ।

आर्त्विजीनाः स्याम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

चत्वारि—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां अविवेश ।।

(ऋ० सं० ४।५८।३)

बहुत से अपभ्रंश होते हैं। जैसे गो शब्द के गावी, गोणी, गोपोतलिका इत्यादि। अब जो वाणी के योग को नहीं जानता है, अज्ञान उसकी शरण है। यह कथन उचित नहीं है (सिद्धान्तपक्षी के अनुसार)। अज्ञान पूर्ण रूप से शरण होने में असमर्थ है अर्थात् नहीं हो सकता है। क्योंकि जो न जानता हुआ ब्राह्मण की हत्या कर दे अथवा सुरापान करे मैं मानता हूं कि वह भी पतित हो जायेगा। पुनः शङ्कापक्षी आशङ्का करता है कि दूषित कौन होगा ? सिद्धान्ती कहता है– अवाग्योगविद् ही। क्योंकि जो वाग्योगविद् है उसका ज्ञान ही उसकी शरण है।

जो अविद्वान् अभिवादन के उत्तर में दिये जाने वाले आशीर्वाद-वाक्य में अभिवादक के नाम को प्लुत करके बोलना नहीं जानते, प्रवास से लौटकर उनके प्रति 'अयमहम्' ऐसा कहे जैसा कि स्त्रियों के प्रति कहा जाता है।

(अभिवादक द्वारा किये गये अभिवादन में) हमारे प्रति स्त्रियों जैसा व्यवहार न हो, इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये।

चत्वारि शृङ्गा, चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादास्त्रयः कालाः भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे सुप्तिङश्च। सप्तहस्तासः सप्तविभक्तयः। त्रिधा बद्धः, त्रिषु स्थानेषु बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसि च। वृषभो वर्षणात् कामानाम्। रोरवीति रौतिः, शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्याम् आविवेश। महता देवेन नस्तादात्म्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

अथ वा; चत्वारि—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
(ऋ० सं० १।१६४।४५)

याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'प्रयाज मन्त्रों को विभक्तियुक्त करना चाहिये। और व्याकरण के विना प्रयाज-मन्त्रों को विभक्तियुक्त नहीं किया जा सकता है। इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

जो व्यक्ति इस वाणी का पद, स्वर अक्षर और वर्ण से ठीक-ठीक उच्चारण करता है वह आर्त्विजीन अर्थात् ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी होता है।

हम ऋत्विक् कर्म कराने के अधिकारी हों इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए।

'इसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं। तीन स्थानों में बँधा हुआ यह वृषभ जोर से चिल्ला रहा है। महान् देव ने मनुष्य में प्रवेश किया।' चार सींग चार पद राशियाँ—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं। इसके तीन पैर भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल हैं। और सुप्, तिङ् इसके दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। त्रिधा बद्धः अर्थात् तीन स्थानों—हृदय, कण्ठ और शिर में बँधा हुआ है। कामनाओं की वर्षा करने से वह वृषभ है। रोरवीति अर्थात् शब्द करता है, रु धातु का अर्थ शब्द करना है। महान् देवस्वरूप शब्द ने मनुष्यों में प्रवेश किया है। उस महान् देव के साथ हमारा तादात्म्य हो, इसलिऐ हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये।

वाणी चार पादों में परिमित है इन चार पादों को मनीषी ब्राह्मण ही

ये मनीषिणः, मनस, ईषिणो मनीषिणः। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमीषन्ति। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं ह वा एतद् वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते।

उत त्वः—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः॥
(ऋ० सं० १०।७१।४)

अपि खलु एकः पश्यन् अपि न पश्यति शृण्वन् अपि न शृणोति एनाम्। अविद्वांसमाह अर्द्धम्। त्वस्मै अन्यस्मै तन्वं विसस्रे, तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाग् वाग्विदे स्वम् आत्मानं विवृणुते। वाक् स्वं नो विवृणुयादित्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

सक्तुमिव—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

जानते हैं। तीन भाग गुहा में छिपे हुए हैं, वे उसे जानने की चेष्टा नहीं करते, पलक भीं नहीं मारते। यह वाणी का चौथा भाग है जो मनुष्यों में विद्यमान है।

'एक अविद्वान् वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, कोई इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। वही वाणी किसी के प्रति अपने शरीर को खोलकर रख देती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्र पहने हुए, कामना करती हुई स्त्री अपने पति के प्रति अपने शरीर को खोल कर रख देती है।'

एक इस वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता। ऋक् का आधा भाग अविद्वान् के विषय में कहता है। एक अन्य के लिये अपने शरीर को खोलकर रख देती है। जिस प्रकार पति की कामना करती हुई, सुन्दर वस्त्र पहने हुए पत्नी अपने आपको पति के सामने प्रकट कर देती है उसी तरह वाणी वाणी को जानने वाले के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। वाणी अपने स्वरूप को हमारे लिए प्रकट कर दे, इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये।

'ज्ञानी लोग अपने मन के द्वारा वाणी को उस प्रकार शुद्ध करके बोलते हैं जिस प्रकार चलनी से छानकर सत्तू को शुद्ध कर दिया जाता है। तब सखा

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥
(ऋ० सं० १०।७१।२)

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति; ततवद् वा तुन्नवद् वा। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते अत्र सखायः सख्यानि सञ्जायते सायुज्यानि जानते। क्व? एष दुर्गमो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते? वैयाकरणाः। कुत एतत्? भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्ष्मणाद् भासनात् परिवृढा भवति।

सारस्वतीम्—

यज्ञिकाः पठन्ति, 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीया सरस्वतीमिष्टिं निर्वपेद्' इति।

सभान ज्ञान युक्त लोग शब्दाभिन्न ब्रह्म के सायुज्य का अनुभव करते हैं। इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है।'

सक्तु शब्द 'सच्' धातु से निष्पन्न है क्योंकि यह कठिनता से धोया जाता है। अथवा कस् धातु को उलटा करके बन जायेगा क्योंकि विकसित होता है। तितउ (चलनी) विस्तार वाली या छिद्रों वाली होती है। धीर अर्थात् ध्यान युक्त, मनसा अर्थात् प्रज्ञान से, वाणी को करते हैं अर्थात् वाणी को शुद्ध करके बोलते हैं। यहाँ लोग सखिभाव सर्वत्र अनुस्यू शब्दतत्त्व अक्षर ब्रह्म को जानते हैं। वे सायुज्य को प्राप्त करते हैं। कैसे? जो ज्ञान से जानने वाला वाणी का दुर्गम मार्ग है। वे कौन हैं? वैयाकरण। यह क्यों? इनकी वाणी में कल्याणमयी वाणी निहित होती है। लक्ष्मी को लक्ष्मी इसलिये कहते हैं क्योंकि वह लक्षण करती है, चमकती है अथवा अधिकार सम्पन्न कराती है।

याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—'आहिताग्नि अपशब्द का प्रयोग होने पर प्रायश्चित्त के लिये सरस्वती की इष्टि करें।

प्रायश्चित्तीया मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम् ।

दशम्यां पुत्रस्य—

दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवद् आद्यन्तरन्तःस्थमभिनिष्ठान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा । कृतं नाम कुर्यान्न तद्धितान्तमिति ।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

सुदेवो असि—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ।। (ऋ० सं० ८।६९।१२)

सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः । काकुद् जिह्वा सास्मिन् विद्यते इति काकुदं तालु । सूर्मिः स्थूला लोहप्रतिमेति ।

एवं 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादिवार्तिकोक्तानि अत्रापि प्रयोजनानि अनुसन्धेयानि ।

हमें प्रायश्चित्त न करना पड़े, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

पुत्र उत्पन्न होने के दस दिन बाद पुत्र का नामकरण करें । नाम का आदि अक्षर घोष, बीच में अन्तस्थ तथा अन्त में विसर्ग हो, नाम दो अक्षर वाला हो । नाम कृदन्त हो, तद्धितान्त नहीं ।

व्याकरण के विना कृदन्त और तद्धितान्त का ज्ञान नहीं हो सकता है । इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये ।

सुदेवो असि—

हे वरुण ! तुम सुदेव हो जिसके काकुद पर सात नदियाँ अर्थात् सातों विभक्तियाँ उसी प्रकार बहती हैं; जिस प्रकार अग्नि लोहे की प्रतिमा के अन्दर प्रविष्ट होकर जलती है । यहाँ सात नादियाँ सात विभक्तियाँ हैं । काकुद अर्थात् जिह्वा । वह जिसमें रहती है वह काकुद अर्थात् तालु । सूर्मि=स्थूल लोह प्रतिमा ।

इसी प्रकार 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इत्यादि वार्तिकों में कहे गये प्रयोजनों को यहाँ समझ लेना चाहिये ।

निरुक्तस्य लक्षणप्रयोजने प्रदर्श्य तत्रस्थविषयाणां कात्स्न्येंन विवेचनम्—

अथ निरुक्तप्रयोजनमुच्यते। अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्। गौः, ग्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमेत्यारभ्य, वसवः, वाजिनः, देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्यन्तो यः पदानां समाम्नायः समाम्नातस्तस्मिन् ग्रन्थे पदार्थावबोधाय परापेक्षा न विद्यते। एतावन्ति पृथिवीनामान्येतावन्ति हिरण्यनामानीत्येव तत्र तत्र विस्पष्टमभिहितत्वात्। तदेतन्निरुक्तं त्रिकाण्डम्। तच्च अनुक्रमणिकाभाष्ये दर्शितम्—

'आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा।
तृतीयं दैवतश्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः॥
गौराद्यापारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम्।
जहाद्युल्वमृबीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते॥
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते।
अग्न्नादिदेवी ऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः॥

अब निरुक्त का प्रयोजन कहते हैं। अर्थबोध के लिये स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है वह निरुक्त कहलाता है। जहाँ गौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा आदि पदों से लेकर वसवः, वाजिनः, देव पत्न्यः पर्यन्त पदों का समाम्नाय पठित है, उस ग्रंथ के पदों के अर्थज्ञान के लिये दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि इतने हिरण्य के नाम हैं, इस प्रकार जगह-जगह पर स्पष्ट रूप से कह दिया गया है। इस निरुक्त में तीन काण्ड हैं। जो कि अनुक्रमणिका ग्रन्थ के भाष्य में दिखलाया गया है—

'प्रथम नैघण्टुक काण्ड है, द्वितीय नैगम काण्ड है और तृतीय दैवत काण्ड है। इस तरह समाम्नाय इन तीन काण्डों में स्थित है। 'गो' आदि से लेकर 'अपार' तक प्रथम नैघण्टुक काण्ड माना जाता है। 'जहाँ' से लेकर 'उल्बम् ऋबीसम्' तक नैगमकाण्ड कहलाता है। 'अग्नि' से लेकर 'देवपत्नी' पर्यन्त दैवत-काण्ड कहलाता है। इसमें 'अग्नि' से लेकर 'देवी ऊर्जाहुती' तक पृथिवी-

वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः ।
सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति ॥
गौरादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमधीयते ॥' इति ।

एकार्थवाचिनां पर्यायशब्दानां सङ्घो यत्र प्रायेण उपदिश्यते तत्र निघण्टुशब्दः प्रसिद्धः । तादृशेषु अमरसिंहवैजयन्तीहलायुधादिषु दश निघण्टव इति व्यवहारात् । एवमत्रापि पर्यायशब्दसङ्घोपदेशाद् आद्यकाण्डस्य नैघण्टुकत्वम् । तस्मिन् काण्डे त्रयोऽध्यायाः । तेषु प्रथमे पृथिव्यादिलोकदिक्कालादिद्रव्यविषयाणि नामानि । द्वितीये मनुष्यतदवयवादिद्रव्यविषयाणि । तृतीये तदुभयद्रव्यगतबहुत्वह्रस्वत्वादिधर्मविषयाणि ।

निगमशब्दो वेदवाची, यास्केन तत्र तत्रापि निगमो भवतीत्येवं वेदवाक्यानाम् अवतारितत्वात् । तस्मिन् निगम एव प्रायेण वर्तमानानां शब्दानां चतुर्थाध्यायरूपे द्वितीयस्मिन् काण्डे उपदिष्टत्वात् तस्य काण्डस्य नैगमत्वम् ।

स्थानीय देवताओं का समूह है । 'वायु' से लेकर 'भग' तक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता हैं । 'सूर्य' से लेकर 'देवपत्नी' तक द्युस्थानीय देवता हैं । 'गौ' से 'देवपत्नी' तक समाम्नाय कहते हैं ।

एकार्थवाची पर्याय शब्दों के समूह का जहाँ प्रायः उपदेश किया जाता है वहाँ निघण्टु शब्द प्रसिद्ध है । उसी प्रकार अमरसिंह, वैजयन्ती, हलायुध आदि ग्रन्थों को दृष्टि में रखकर व्यवहार किये जाने से निघण्टु दश हैं । इसी प्रकार यहाँ भी पर्याय शब्दों के उपदेश होने से प्रथम काण्ड को नैघण्टुक काण्ड कहा जाता है । उस काण्ड में तीन अध्याय हैं । उनमें से प्रथम में पृथिवी आदि लोक तथा दिव्य काल आदि द्रव्यों के नाम हैं । दूसरे अध्याय में मनुष्य और उसके अवयव आदि द्रव्यों के नाम हैं । तृतीय में उन दोनों प्रकार के द्रव्यों के बहुत्व, ह्रस्वत्व आदि धर्मों के नाम हैं ।

निगम शब्द वेद का वाचक है क्योंकि यास्क ने जगह-जगह पर 'अपि निगमो भवति' इस प्रकार कहकर वेद वाक्यों को उद्धृत किया है । उस

पञ्चमाध्यायरूपस्य तृतीयकाण्डस्य दैवतत्वं विस्पष्टम् ।

पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्य उक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम् । तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे । तदपि निरुक्तमित्युच्यते; एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थास्तत्र निःशेषेण उच्यन्ते इति व्युत्पत्तेः । तत्र हि, चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति प्रतिज्ञाय, उच्चावचेषु अर्थेषु निपन्तीति निपातस्वरूपं निरुच्य एवमुदाहृतम्—नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायं 'नेन्द्रं देवममंसत्' इति प्रतिषेधार्थीय इति, दूर्मदासो न सुरायां' मित्युपमार्थीय (नि० १।१।४) इति च । तच्च लोके केवलप्रतिषेधार्थीयस्यापि नकारस्य वेदे प्रतिषेधोपमालक्षणोभयार्थोदाहरणमस्मिन् ग्रन्थेऽत्र-

---

निगम में ही प्रायः वर्तमान शब्दों का चतुर्थ अध्याय रूप द्वितीय काण्ड में उपदेश होने से उस काण्ड को नैगम कहते हैं

पञ्चम अध्याय रूप तृतीय काण्ड का दैवतकाण्ड कहा जाना स्पष्ट है ।

पञ्चाध्यायरूप तीन काण्डों वाले इस ग्रन्थ में दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा न कर पदों का अर्थ कहे जाने से इस ग्रन्थ को निरुक्त कहा जाता है । उसका व्याख्यान 'समाम्नायः समाम्नातः' से लेकर 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति' तक द्वादश अध्यायों के द्वारा यास्क ने किया है । वह भी निरुक्त कहलाता है, उसमें एक-एक पद के सम्भावित अवयवार्थों को निःशेष रूप से कह दिया गया है । वहाँ पर पद के चार भेद हैं—नाम, आख्यात; उपसर्ग और निपात यह प्रतिज्ञा करके 'ऊँचे नीचे अर्थात् अनेक प्रकार के अर्थों में गिरते=कहते हैं, यह निपात का स्वरूप बतलाकर इस प्रकार उदाहरण दिया है 'न' यह निपात लोक भाषा में निषेधार्थ में आता हैं किन्तु वेद में दोनों अर्थों में आता है । 'नेन्द्रं देवममंसत' यहाँ निषेध अर्थ में 'न' का प्रयोग हुआ है, 'दुर्मदासो न सुरायाम्' यहाँ उपमा अर्थ में 'न' प्रयुक्त है । इस प्रकार लोकभाषा में केवल निषेध अर्थ में प्रयुक्त होने वाले नकार का वेद में निषेध और उपमा इन दोनों अर्थों में

गम्यते। एवं ग्रन्थकारेण उक्तास्तत्तत्पदनिर्वचनविशेषास्तत्तन्मन्त्रव्याख्यानावसरे एव अस्माभिरुदाहरिष्यन्ते। न च निर्वचनानां निर्मूलत्वं शङ्कनीयम्, एतद्व्युत्पत्त्यर्थमेव ब्राह्मणेषु पदनिर्वचनानां केषाञ्चिदुक्तत्वात् 'तदाहुतीनाम् आहुतित्वम्' (ऐत० ब्रा० १।१।२) इति; 'तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षत' (ऐत० आ० २।४।३) इति, 'यदप्रथयत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १,१।३।६।७) इति च। ग्रन्थकारोऽपि तत्र तत्र स्वोक्तनिर्वचनमूलभूतब्राह्मणानि उदाहरिष्यति। केषाञ्चिन् निर्वचनानां व्याकरणबलेन सिद्धावपि न सर्वेषां सिद्धिरस्ति। अत एव ग्रन्थकार आह–'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च' (नि० १।५) इति। तस्माद् वेदार्थविबोधाय उपयुक्तं निरुक्तम्।

छन्दसः प्रयोजनोपन्यासः—

तथा छन्दोग्रन्थोऽपि उपयुज्यते, छन्दो विशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात्। 'तस्मात् सप्त चतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातर-

---

प्रयुक्त होने का उदाहरण निरुक्त ग्रन्थ से ज्ञात होता है। इस प्रकार ग्रन्थकार के द्वारा कथित उन-उन पदों का प्रयोग जिन मन्त्रों में हुआ है उन मन्त्रों के व्याख्यान के अवसर पर हम उन निर्वचनों का उदाहरण देंगे। निर्वचनों के निराधारत्व की शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में पदों के अर्थ की व्युत्पत्ति के लिये कुछ पदों का निर्वचन किया गया है—'तदाहुतीनामाहुतित्वम्' (ऐत० ब्रा० १।१।२), 'तमिदन्द्र सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते' (ऐत० ब्रा० २।४३), यदप्रथयत् तत् पृथिव्याः पृथिवीत्वम्' (तै० ब्रा० १।१।३।६ ७)। ग्रन्थकार यास्क भी जगह-जगह पर अपने द्वारा कहे गये निर्वचनों के आधारभूत ब्राह्मणों का उदाहरण देते हैं। कुछ निर्वचनों के व्याकरण द्वारा सिद्धि नहीं होती है। अतः ग्रंथकार ने कहा है—'यह निरुक्त नामक विद्या स्थान व्याकरण की पूर्ति करने वाला है और स्वार्थ का साधक है।' इसलिये वेदार्थ के अवबोध के लिए निरुक्त उपयुक्त है।

वहीं छन्दग्रन्थ का भी उपयोग है, छन्द विशेष का जगह-जगह पर विधान होने से। 'इसलिये चार अक्षरों से अधिक होने वाले सात छन्दों का प्रातरनु-

नुवाकेऽनूच्यन्ते' (तै० ब्रा० १।५।१२।१) इति हि आम्नातम्। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपङ्क्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ततोऽपि चतुर्भिरक्षरैरधिका अष्टविंशत्यक्षरा उष्णिक्। एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबादयोऽवगन्तव्या। तथा अन्यत्रापि श्रूयते—'गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात्, त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य, जगतीभिर्वैश्यस्य' (तै० ब्रा० १।१।९।६।७) इति तत्र मगणयगणादिसाध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः। किञ्च, यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति 'वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते पापीयान् भवति' (का० १।१) तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यामिति श्रूयते। तस्मात् तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते।

ज्योतिषस्य प्रयोजनादिनिर्देशः—

वाक् में उच्चारण होना चाहिये।' ऐसा तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।५।१२।१) में आम्नात है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सप्त छन्द हैं। चौबीस अक्षरों की गायत्री है। उससे भी चार अक्षरों से अधिक अर्थात् अट्ठाइस अक्षरों का उष्णिक् होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर चार चार अधिक अक्षरों वाले अनुष्टुप् आदि को जानना चाहिये। उसी प्रकार दूसरी जगह भी सुना जाता है—'गायत्री छन्द वाले मन्त्रों से ब्राह्मण का अग्न्याधान करें। त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों से राजन्य का और जगती छन्द वाले मन्त्रों से वैश्य का' (तै० ब्रा० १।१।९।६–७)। वहाँ मगण यगण आदि के द्वारा साध्य गायत्री आदि का विवेक छन्दोग्रन्थ के विना सुविज्ञेय नहीं है। और भी कहा गया है—जिन मन्त्रों का ऋषि, छन्द, देवता और ब्राह्मण विदित नहीं है ऐसे मन्त्रों से जो यज्ञ कराता है या अध्यापन कराता है वह स्थाणु होता है, गर्त में गिरता है, नष्ट हो जाता है अथवा पाप का भागी होता है। इसलिये प्रत्येक मन्त्र में इन बातों को जानना चाहिये।' इसलिये छन्दों को जानने के लिये छन्दोग्रन्थ उपयुक्त है।

ज्योतिष शास्त्र के प्रयोजन आदि का कथन—

ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थे विहितम्--'यज्ञकालार्थ-सिद्धये' (वेदाङ्गज्यो०) इति । कालविशेषविधयश्च श्रूयन्ते—संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (तै० आ० १।३२।१) 'संवत्सरमुख्यं भूत्वा' (तै० सं० ५।६।५।१) इत्येवमादयः संवत्सरविधयः, 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।६।७) इत्याद्या ऋतुविधयः, 'मासि मासि सत्रपृष्ठानि उपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' (तै० सं० ७।५।१।५) इत्याद्या मासविधयः, 'यं कामयेत वसीयान् स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेद्' (तै० सं० २।२।३।१) इत्याद्याः पक्षविधयः 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्' 'फल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन्' (तै० सं० ७।४:८।१) इत्याद्यास्तिथिविधयः, 'प्रातर्जुहोति' 'सायं जुहोति' (तै० ब्रा० २।१।२) इत्याद्याः प्रातःकालादि विधयः, 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' (तै० ब्रा० १।१।२।१) इत्याद्या नक्षत्रविधयः । अतः कालविशेषान् अवगमयितुं ज्योतिषमुपयुज्यते ।

एतेषां च वेदार्थोपकारिणां षण्णां ग्रन्थानां वेदांगत्वं शिक्षायामेव-मुदीरितम्—

ज्योतिष का प्रयोजन उसी ग्रंथ में विहित है--'यज्ञकाल की सिद्धि के लिये' (वेदांगज्योतिष में) । विशेषकाल की विधियाँ सुनी जाती हैं—'संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत्' (तै० आ० १।३२।१); 'संवत्सरमुख्यं भूत्वा' (तै० सं० ५।६।५।१) इत्यादि संवत्सर-विधियाँ हैं । 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १ १।२।६–७) इत्यादि ऋतु विधियाँ हैं । 'मासि मासि पृष्ठान्युपयन्ति, मासि मासि अतिग्राह्या गृह्यन्ते' इत्यादि मास-विधियाँ हैं । 'य कामयेत वसीयान्स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्' इत्यादि पक्षविधियाँ हैं । 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्', फाल्गुनी पूर्णमासे दीक्षेरन्' इत्यादि तिथि विधियाँ हैं । 'प्रातर्जुहोति सायं जुहोति' इत्यादि काल विधियाँ हैं । 'कृत्तिकास्वग्निमादधीत' इत्यादि नक्षत्रों की विधियाँ हैं । अतः कालविशेषों को जानने के लिये ज्योतिष का उपयोग है ।

वेदार्थ में उपयोग करने वाले इन छ ग्रन्थों का वेदाङ्ग होना शिक्षा ग्रन्थों में ही कहा गया है—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥'

(पा० शि० ४१-४२) इति ।

पुराणन्यायादिचतुर्दशविद्यास्थानानां तत्तदधिकारिविशेषनिर्देशमुखेन वेदार्थज्ञानोपयोगित्वम्—
षडङ्गवत् पुराणादीनापि वेदार्थज्ञानोपयोगो याज्ञवल्क्येन स्मर्यते--

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥'

(या० स्मृ० १।३) इति ।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति ॥'

(म० भा० १।१।२६७)

इत्यन्यत्रापि स्मर्यते ।

ऐतरेयतैत्तिरीयकाठकादिशाखासूक्तानि हरिश्चन्द्रनाचिकेताद्य-

छन्द वेद के पैर हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष चक्षु है, निरुक्त कान कहा जाता है। शिक्षा वेद की नाक है, व्याकरण को मुख माना है। इसलिये अङ्ग सहित वेदों को पढ़ कर ही ब्रह्मलोक में पूजित होता है।

छ अङ्गों की भाँति पुराणादि का भी वेद के अर्थ को जानने में उपयोग याज्ञवल्क्य ने स्मृति ग्रंथ में बतलाया है—'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र; छ वेदाङ्ग तथा चार वेद—ये विद्याओं के तथा धर्म के चौदह स्थान हैं— अन्यत्र भी कहा गया है—'इतिहास और पुराण की सहायता से वेद का व्याख्यान करना चाहिये। वेद अल्प श्रुत से यह सोचकर डरता है कि कहीं यह मन्द प्रचार न कर दे।'

ऐतरेय, तैत्तिरीय, काठक आदि शाखाओं में वर्णि

पाख्यानानि धर्मब्रह्मावबोधोपयुक्तानि तेषु तेषु इतिहासग्रन्थेषु स्पष्टीकृतानि। उपनिषदुक्ताः सृष्टिस्थितिलयादयो ब्राह्मपाद्मवैष्णवादिपुराणेषु स्पष्टीकृताः—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्'॥
(वि० पु० ३।६।२२)

इति सृष्टयादेः पुराणप्रतिपाद्यत्वावागमात्। न्यायशास्त्रे प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तादीनां षोडशपदार्थानां निरूपणात्। तदनुसारेण इदं वाक्यमस्मिन् अर्थे प्रमाणं भवति नेतरद् इति निर्णयः कर्तु शक्यते। पूर्वोत्तरमीमांसयोर्वेदार्थोपयोगोऽतिस्पष्ट एव। मन्वत्रिविष्णुहारीतादिप्रोक्तासु स्मृतिषु वेदोक्तसन्ध्यावन्दनादिविधयः प्रपञ्चिताः। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' (तै० आ० २।२) इत्यादिकः सन्ध्यावन्दनविधिः। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते (तै० आ० २।१०) इत्यादिको महायज्ञविधिः। एवं विध्यन्तराणि द्रष्टव्यानि। उक्त-

---

आदि के उपाख्यान धर्म और ब्रह्म के ज्ञान के लिये उपयुक्त हैं और उन-उन इतिहास ग्रन्थों में उन्हें स्पष्ट किया गया है। सृष्टि, स्थिति, लय आदि को ब्रह्म, पद्म, विष्णु आदि पुराणों में स्पष्ट किया गया है। सृष्टि, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंश-परम्परा चरित ये पाँच पुराण के लक्षण हैं।'

इससे ज्ञात होता है कि सृष्टि आदि का पुराणों में प्रतिपादन किया गया है। न्यायशास्त्र में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त आदि सोलह पदार्थों का निरूपण हुआ है। तदनुसार यह निर्णय किया जा सकता है कि यह वाक्य इस अर्थ में प्रमाण है, अन्य वाक्य नहीं। पूर्व एवं उत्तर मीमांसा का वेदार्थ के लिये जो उपयोग है वह स्पष्ट ही है। मनु, अत्रि, विष्णु, हारित आदि के द्वारा प्रोक्त स्मृतियों में वेदों में प्रतिपादित सन्ध्या-वन्दनादि विधियाँ वर्णित हैं। 'तदु ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमन्त्रिता आपः ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति' इत्यादि सन्ध्यावन्दन का विधि है। 'पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते' इत्यादि महायज्ञ की विधि है। इसी प्रकार अन्य विधियों को

प्रकारेण पुराणादीनां वेदार्थज्ञानोपयोगाद् विद्यास्थानत्वं युक्तम्। एतैः पुराणादिभिश्चतुर्दशभिर्विद्यास्थानैरुपबृंहिताया विद्याया ग्रहणेऽधिकारविशेषः शाखान्तरगतैश्चतुर्भिर्मन्त्रैरुपदर्शितः। तांश्च, मन्त्रान् यास्क उदाजहार (नि० २।४)।

तत्रायं प्रथमो मन्त्रः—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्याभिमानिनी देवता ब्राह्मणमुपदेष्टारमाचार्यमाजगाम। आगत्य एवं प्रार्थयामास--हे ब्राह्मण, मामनधिकारिणेऽनुपदिश्य पालय। तवाहं निधिवत् पुरुषार्थहेतुरस्मि। तादृश्यां मयि मदुपदेष्टरि त्वयि च योऽसूयां करोति यश्च आर्जवेन विद्यां नाभ्यस्यति, योऽपि स्नानाचमनाद्याचारनियतो न भवति तादृशेभ्यः शिष्याभासेभ्यो मां न ब्रूयाः। तथा सति त्वद्हृदये स्थित्वा फलप्रदा भवेयम्।

देखना चाहिये उक्त प्रकार से पुराणादि का वेदार्थ के ज्ञान में उपयोग होने से उनका विद्यास्थान युक्त होता है। इन पुराणादि चौदह विद्यास्थानों के द्वारा उपबृंहित विद्या के ग्रहण में अधिकार— [illegible] के चार मन्त्रों द्वारा किया गया है। उन [illegible]
किया है (निरुक्त २।४)। [illegible]

उनमें पहला मन्त्र यह [illegible]
कर, मैं तुम्हारी निधि हूँ [illegible]
लिए मुझको मत कहो [illegible]

विद्या अभिम[illegible]
आई। आकर [illegible]
दे[illegible]

अथ द्वितीयो मन्त्रः—

य आतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरञ्च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥इति॥

पूर्वस्मिन् मन्त्रे आचार्यस्य नियममभिधाय अस्मिन् मन्त्रे शिष्यस्य नियमोऽभिधीयते। वितथमनृतमपुरुषार्थभूतं लौकिकं वाक्यम्, तद्विपरीतं सत्यं वेदवाक्यमवितथम्। तादृशेन वाक्येन य आचार्यः शिष्यस्य कर्णावतृणत्ति सर्वतस्तदर्दनं पूरणं करोति। उपसर्गवशादौचित्याच्च तृणत्ति धातोरर्थान्तरे वृत्तिः। सर्वदा वेदं यः श्रावयति इत्यर्थः। किं कुर्वन्? अदुःखं कुर्वन्, मन्दप्रज्ञस्य माणवकस्य आदावर्धर्चमृचं वा ग्रहीतुमशक्तस्य यथा दुःखं न भवति तथा पादं पादेकदेशं वा ग्राहयन्; किञ्च अमृतं सम्प्रयच्छन्; अमृतत्वस्य देवजन्मनो मोक्षस्य वा प्रापकत्वाद् अमृतं वेदार्थः; तस्य प्रदानं कुर्वन्,

---

बता। ऐसा करने पर तुम्हारे हृदय में स्थित होकर मैं फलप्रदा अर्थात् फलदायिनी होऊँगी।

दूसरा मन्त्र है—

...ता हुआ, मोक्ष प्राप्ति हेतु ज्ञान को देता
...है, उस गुरु को पिता और माता

...कहकर इस मन्त्र में शिष्य के
...र्थभूत लौकिक वाक्य है।
...के वाक्य से जो आचार्य
...सर्ग के कारण और
...अर्थ होता है जो
...। ...दि में
...:
...;
...को

आचार्य को मुख्य माता पिता के रूप में स्वीकार करे । अधम मनुष्य-शरीर के प्रधान कर्ता होने से पूर्वसिद्ध माता-पिता गौण हैं। इसलिए मुख्य माता-पिता रूप आचार्य से किसी प्रकार का भी द्रोह न करे।

पढ़ाया हुआ ब्राह्मण मन, वचन और कर्म से गुरु का आदर नहीं करता है तो गुरु जैसे उसके काम में नहीं आते हैं उसी तरह वह अधीत विषय भी उनके उपयोग में नहीं आता है । जो अधम विप्र गुरु के द्वारा पढ़ाये जाने पर विनयान्वित वाणी से गुरु के हित के चिन्तन से अथवा सेवा कर गुरु का आदर नहीं करते हैं, ऐसा आदर-रहित नाममात्र का शिष्य गुरु के अनुग्रह के योग्य नहीं होता, क्योंकि उनके ऊपर गुरु कृपा नहीं होती है, जिस तरह गुरु के द्वारा वे रक्षणीय नहीं होते उसी तरह उन निम्नस्तर के शिष्यों को गुरु के द्वारा उपदिष्ट वेदवाक्य भी उनका रक्षक नहीं होता है ।

हे विप्रगण, पवित्र प्रमादशून्य मेधावी और ब्रह्मचारी ...
कभी भी द्वेष न करे उसी शिष्य को अपनी ...
उसी को अध्यापन के द्वारा मुझे ...
गुणों से युक्त जिस शिष्य को आ...
से द्वेष न करे उस पालक ...
विद्या प्रदान करें। इस ...
शिष्य को ही वेद-विद्या ...
व्याख्यान किया जाता ...

॥ ऋ...

ऋग्वेद में इन्द्र

डॉ० सुधा रस्तोगी

इस ग्रंथ में इन्द्र का वृष्टिदेवता के रूप में चित्रण तथा आधिभौतिक [illegible]
रथ के आविष्कर्ता महान् योद्धा के रूप में इन्द्र के विविध रूप के नये
आयामों का साधिकार चित्रण किया गया है। यही नहीं, ऋग्वेद [illegible]
पूर्व बिखरे हुए इन्द्र के धुँधले रूप को वैदिक आलोक में देखते हुए [illegible]
इन्द्र के पौराणिक व्यक्तित्व तथा जैन व बौद्ध साहित्य तक चित्रित स्वरूप
को अब तक उपलब्ध इन्द्रसम्बन्धी समस्त साहित्य के आधार पर एक
विराट् फलक पर उत्कीर्ण किया गया है। ३४--००

हिन्दी कठोपनिषद्

(शांकरभाष्य सहित के हिन्दी रूपान्तर)

डॉ० कीर्त्यानन्द झा न्याय-वेदान्ताचार्य

[illegible] शिक्षाप्रद सुप्र[illegible] उपाख्यान इस ग्रन्थ का
[illegible]की हिन्दी व्याख्या को शांकरभाष्य के
[illegible]हिन्दी मौलिक रचना ही प्रस्तुत कर
[illegible]रभाष्य के एक-एक पदपर विशद
१०--००

[illegible] सहित)

[illegible] हिन्दी टीकायें जो
[illegible]ती थीं, उसी
[illegible] व्याख्या